निरोधलक्षणम्

षड्भिष्टीकाभिस्मलंकृतम्

श्रीकृष्णाय नमः।।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

ग्रन्थ-परिचय

निरोधलक्षण ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने गुजरातके आपके शिष्य राजा दवे और माधव दवेकेलिए लिखा था. किंवदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि.सं. १५६६ है[१]

चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके अन्तर्गत इन दोनों भाईओंकी कथा भावप्रकाशमें यों मिलती हैं:

"राजा दुबे-माधौ दुबेके माता-पिता मांदे भये तब दोऊ बेटानसों कहें-"अब हमको या समें श्रीरनछोड़जीके दरसन करावो तो बहोत आछो". तब वे दोऊ डोली भाड़े करि माता-पिताको बैठारि श्रीठाकुरजीकों सङ्ग ले चले. सो श्रीरनछोड़जीके दरसन माता-पिताकों कराये. तब तहां कछुक दिनते श्रीआचार्यजी द्वारकामें हते... तब राजा दुबे-माधौ दुबे लोगनसों पूछे-"इहां कहु कथावार्ता-भगवतचर्चा होत होई तो तहां जैये... तब एकने कही-"श्रीवल्लभाचार्यजी पृथ्वीपरिक्रमा करि इहां पधारे हैं सो कथा बहोत आछी कहत हैं"... तब दोऊ भाई प्रसन्न होई आगे आई बैठे. तब श्रीआचार्यजी नन्दमहोत्सवको वर्णन-श्रीभागवत दशमस्कन्धके पांचमे अध्यायको वर्णन किये. सो नन्दालयकी लीलाको प्रकट अनुभव दोऊ भाईनकों कराय दिये...

...श्रीआचार्यजीके पास बड़े सबेरे आई बिनती किये-"महाराज हमको सरनि लीजिये". तब श्रीआचार्यजी दोऊ भाईनको फेरि न्हवाईके नाम सुनाये ब्रह्मसम्बन्ध कराये. पाछे श्रीआचार्यजी कहे-"अब तुम भगवत्सेवा करो"... सो श्रीआचार्यजी श्रीठाकुरजीकों पञ्चामृत स्नान कराई राजा दुबे-माधौ दुबेके माथे पधराये और आज्ञा किये-"सब ठोरते मन छुटाई निरोध करि भगवत्सेवा करो". तब राजादुबे-माधौदुबे विनती करि जो "महाराज निरोधको स्वरूप कहा है?"...

या प्रकार दोऊ भाईनकी दीनता सरल स्वभाव देखिके दशमस्कन्ध जाको 'निरोधस्कन्ध' कहे हैं ताको आप 'निरोधलक्षण' ग्रन्थ करि दोऊ भाईनको पाठ करायके कहें-"तुम दोऊ भाईनको निरोध सिद्ध होईगो". सो तत्काल दोऊ भाईनको मन अलौकिक है गयो. लीलारसको अनुभव होन लग्यो. तब श्रीआचार्यजी कहे-"अब अपने घर जाय सेवा करो... दैवी जीव आवें तिनकों नाम दीजो. तुमको निरोध सिद्ध भयो और जो तुम्हारो सङ्ग मन लगायके करेगो ताहूकों निरोध सिद्ध होयगो?

---

१ वैष्णववाणी (अंक ४ वर्ष ७९) श्रीनागरदास शास्त्री लिखित लेख.

सो अपने गाम मणुन्दमें आये. घरमें दोऊ भाई भगवत्सेवा करना लागे. कछुक द्रव्य घरमें हतो तामें निर्वाह करें. काहूसों बहोत बोले नाहीं. जो आवे तापर दया करिके खानपानको समाधान करे. भगवद्वार्ता करि दोऊ भाई श्रीठाकुरजीकी लीलाके रसमे मगन रहते”

भगवान्के भक्तोंमें तथा भक्तोंके भगवान्में तल्लीन ही जानेकी कथा भागवतके दशमस्कन्धमें निरोधलीलाके रूपमें वर्णित हुई है. भगवान्की इस निरोधलीलाके फलस्वरूप, यह वहां कहा गया है कि उन भक्तोंकी ऐसी स्थिति हो गई कि वे सोते-जगते, चलते वार्तालाप करते, क्रीडा या स्नान करते और भोजन करते हुए भी अपनी सारी सुध-बुध खोकर केवल श्रीकृष्णमें ही तल्लीन रहते थे-“शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानाशनादिषु न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः” (भाग १०।९०।४६) यह निरोधका परिनिष्पन्न स्वरूप है.

योगका लक्षण हमारी केवल चित्तवृत्तियोंका निरोध माना गया हैं- “योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” केवल चित्तवृत्तिका निरोध किन्तु भक्तिमार्गमें अपर्याप्त माना गया है. पुष्टिभक्तिरूप निरोध श्रीकृष्णके संयोग एवम् वियोगको गहराईसे अनुभूत करना है. केवल चित्तवृत्ति ही नहीं अपितु देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, आत्मा; तथा अन्य भी आत्मीय वस्तु और परिजनों का कृष्णभजनमें विनियोग या तत्पर हो जाना पुष्टिमार्गीय निरोध है.

इस भक्तियोगके निरोधकी व्याख्या उसके १.कारणलक्षण, २.स्वरूपलक्षण, ३.कार्यलक्षण एवम्; ४.प्रयोजनलक्षणके आधार पर चार तरहसे दी जा सकती है.

कारणलक्षणः

भागवतके द्वितीयस्कन्धके दसवें अध्यायकी छठी कारिका- “निरोधोस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः” में निरोधके कारणलक्षणका निरूपण हुआ है. श्रीमहाप्रभुने भी भागवतार्थ निबन्ध (१०।१४-१७) में इसका विवेचन किया है. वहां यह समझाया गया है कि अपनी दुर्विभाव्य शक्तियोंके साथ श्रीकृष्णका इस धरातलपर क्रीडार्थ प्रकट होना निरोध है. ‘निरोध’ के इस तरहके लक्षणमें ‘निरोध’ शब्दका रूढार्थ नहीं किन्तु यौगिकार्थ विवक्षित होता है. नवमस्कन्धका वर्ण्य-विषय, भक्ति और दशमस्कन्धका वर्ण्य-विषय निरोध माना गया है. इनके पूर्वापर होनेकी क्रमसङ्गति यह मानी गयी है कि नवमस्कन्धमें निर्दिष्ट भक्ति जिनमें प्रकट होती है ऐसे भक्तोंका, उन्हें विमुक्त करनेकेलिए भगवान्केद्वारा, जो रोध किया जाता है, उसे ‘निरोध’ कहते हैं. क्योंकि जो

श्रीकृष्णकेद्वारा निरुद्ध होते हैं वे संसारसे मुक्त हो जाते हैं. संसारावेश भक्तिको अशुद्ध बनता है अत: भक्तिकी शुद्धताकेलिए श्रीकृष्णकेद्वारा भक्तोंका निरोध आवश्यक है.

दशमस्कन्धमें वर्णित भगवान्‌की प्रत्येक लीलाकी चरम परिणति यही दिखलायी गयी है कि कैसे उन-उन लीलाओंसे सम्बद्ध भक्त श्रीकृष्णके प्रति प्रबल आकर्षणके कारण प्रपञ्चको भूल कर श्रीकृष्णमें अनन्यतया आसक्त हो गये थे.

वात्सल्यभाववाले नन्द-यशोदाकी यही गति हुई. सख्यभाववाले गोपाबालकोंकी यही गति हुई. माधुर्यभाववाली गोपिकाओंकी भी यही गति हुई. व्रजके तो पशु-पक्षी-वृक्ष-पर्वत-नदी पर्यन्तकी यही गति वर्णित हुई है. आगे चल कर मथुरालीला या द्वारकालीला से सम्बद्ध भक्तोंकी भी प्रपञ्चविस्मृति और कृष्णासक्ति ही पूरे अवशिष्ट दशमस्कन्धका प्रमुख वर्णनीय विषय है.

इस जगतमें भगवान्‌की जैसी लीलाके कारण भक्त, प्रपञ्चको भूलकर, भगवान्‌में अनन्यतया आसक्त हो पाता हो वह भगवान्‌की लीला भक्तके भगवान्‌में निरुद्ध होनेका कारण मानी जाती है. अत: ऐसी भगवल्लीलाके निर्देशद्वारा निरोधकी व्याख्या, निरोधका कारण लक्षण माना जाता है.

भगवान्‌की मनोहारी लीलाओंकेद्वारा अवतारकालमें तो भक्तोंका निरोध भागवतके दशमस्कन्धमें वर्णित हुआ है, किन्तु आधुनिक भक्तोंके निरोधकी सम्भावना कितनी हो सकती है? इस शङ्काका समाधान श्रीमहाप्रभुने भागवतार्थ-निबन्धके गुणप्रकरणमें किया है. वहां यह कहा गया है कि जैसे धर्मिरूपमें श्रीकृष्णके स्वयमेव प्रकट होनेपर भक्त उनमें निरुद्ध हो गये, इसी तरह भगवान्‌के गुण-धर्मोका निरन्तर श्रवण-स्मरण-कीर्तन करनेसे, आधुनिक भक्त भी भगवान्‌में निरुद्ध हो सकते हैं. अतएव दशमस्कन्धके अन्तमें छह अध्याय गुणप्रकरणके रूपमें योजित किये गये है.

परमात्मा परमार्थत: यदि निर्गुण, निर्धर्मक निराकार निर्विशेष हो तो कृष्णावतारकी लीलाको मायाका कपटनाटक मानना पड़ेगा. इसी तरह परमात्माका मूलरूप श्रीकृष्ण न हों तो दशमस्कन्धमें वर्णित लीलाओंकी आधिदैविक महत्ता खण्डित हो जायेगी. अत: परब्रह्म परमात्मा भगवान् स्वयम् सगुण-साकार श्रीकृष्ण हैं, यह दिखलानेकेलिए अन्तिम गुणप्रकरणमें श्रीकृष्णके दिव्य अकुण्ठित एवम् पारमार्थिक, ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य रूप, छह गुणोंका द्योतन छह अध्यायोंद्वारा किया गया है (भा. नि. १०।४१८-४२०).

अवतारकालमें अपने स्वरूपगत आकर्षणसे भगवान् भक्तोंको अपनेमें निरुद्ध करते हैं. अनवतारकालमें स्वयम् भगवान्के प्रकट न होनेपर भी भगवद्गुणोंका ऐसा माहात्म्य है कि गुणगानकर्ता भक्त भगवान्में निरुद्ध हों ही जाते हैं. अर्थात् भगवद्गुणोंके सङ्कीर्तन करनेसे भी प्रपञ्चकी विस्मृति और भगवदासक्ति सुलभ हो जाती है-'स्कन्धार्थस्तु' निरोधो हि ततस्तेनोपसंहृतिः अग्रेपि ये भविष्यन्ति कीर्तनात्तेपि तादृशाः'' (भा. नि. १०।४६६),

इससे सिद्ध होता है कि भगवल्लीलासे प्रत्यक्ष सम्बन्धकी तरह परोक्षमें उसका श्रवण-स्मरण-कीर्तन भी प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति रूप निरोधका कारण बनता है.

भक्तिवर्धिनीमें अतएव दोनों कल्प दिखलाये गये हैं:सेवा और कथा; तथा केवल कथा. भागवतार्थ-निबन्धके तामसफल प्रकरणके उपसंहार (१०।११०-१११) में यह कहा गया है कि ''गुणगान कथा परोक्षमें करनी चाहिये. प्रत्यक्षमें भजन-सेवा श्रेष्ठ होती है. इस तरह वियोग एवम् संयोगकी अनुभूतियोंका चक्रकी तरह आवर्तन निरन्तर चलने लग जाये तो निरोधदशाकी सिद्धि मान लेनी चाहिये''. अनवतारकालमें भगवत्सेवा पुष्टिमार्गमें भगवल्लीलाकी प्रत्यक्ष अनुभूतिकी तरह मान्य है. अतएव सेवाके अनवसरमें कथाका समाश्रयण आवश्यक है.

स्वरूपलक्षण:

निरोधके कारण-लक्षणकी पहचानके बाद स्वरूपलक्षण सुबोध हो जाता है. प्रपञ्चको सर्वथा भूलकर भगवान्में ही अनन्यतया आसक्त हो जाना निरोधका स्वरूपलक्षण है. ''प्रपञ्चविस्मृतिः तस्मात् कृष्णासक्तिश्च वर्ण्यते''.

भागवतके नवमस्कन्धमें भक्तिका वर्णन अभिप्रेत है. ऐसी भक्तिवाले जीव प्रपञ्चको भूलकर अनन्यतया भगवान्में आसक्त किस तरह हो पाये, यह दिखलाना दशमस्कन्धमें अभिलषित है. तदनुसार षोडशग्रन्थमें भी, भक्तिवर्धिनीमें पहले भक्तिके विविध प्रकारोंका वर्णन किया गया है; और बादमें निरोधलक्षण ग्रन्थमें ऐसी भक्तिवाले जीवोंकेलिए अनन्यतया भगवान्में निरुद्ध होनेके उपाय समझाये गये हैं. एतदर्थ भक्तिर्वधिनीमें वर्णित भक्तोंके पांचों प्रकारपर थोड़ासा दृष्टिपात उपयोगी होगा:

भक्तिमार्गीय जीव:

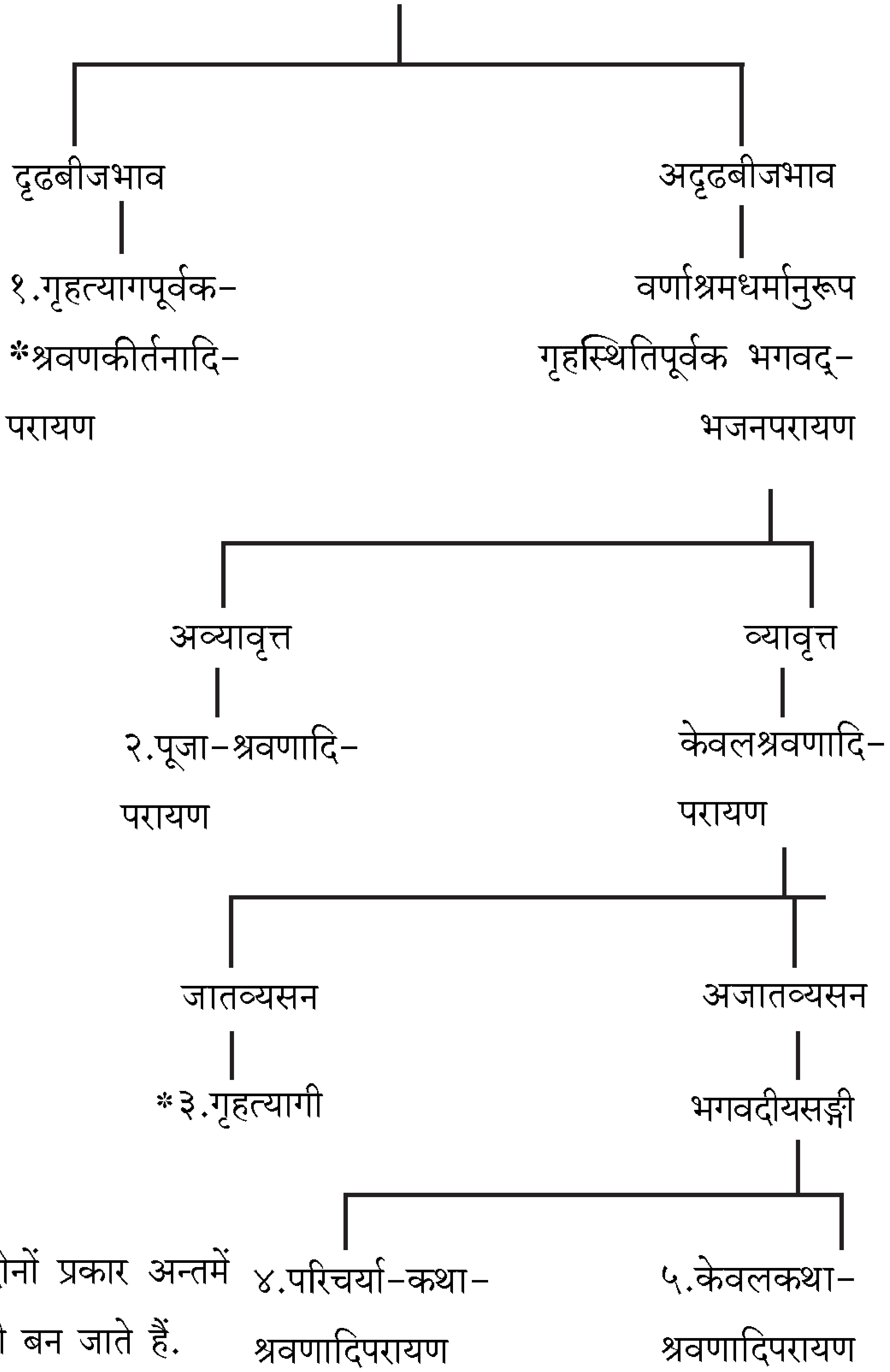
दृढबीजभाव
१.गृहत्यागपूर्वक-*श्रवणकीर्तनादि-परायण
अदृढबीजभाव
वर्णाश्रमधर्मानुरूप गृहस्थितिपूर्वक भगवद्-भजनपरायण
अव्यावृत्त
२.पूजा-श्रवणादि-परायण
व्यावृत्त
केवलश्रवणादि-परायण
जातव्यसन
*३.गृहत्यागी
अजातव्यसन
भगवदीयसङ्गी
४.परिचर्या-कथा-श्रवणादिपरायण
५.केवलकथा-श्रवणादिपरायण

*ये दोनों प्रकार अन्तमें एक ही बन जाते हैं.

इस तालिकापर दृष्टिपात करनेके बाद यह समझ लेना भी आवश्यक है कि षोडशग्रन्थोंमें कौनसा ग्रन्थ किस अधिकारीकेलिए मुख्यतया उपदेशाई है. इसके अन्तर्गत निरोधलक्षण ग्रन्थके उपदेशार्थ अपेक्षित अधिकारीके ज्ञानसे इस ग्रन्थकी, अन्य भक्तिवर्धिनी आदि ग्रन्थोंसे, सङ्गति तथा तात्पर्य का निर्धारण सरल हो जाता है:

ग्रन्थ	किस अधिकारीकेलिए
१.यमुनाष्टक	भक्तिवर्धिन्युक्त पांचोंकेलिए
२.बालाबोध	,, ,, ,,
३.सिद्धान्तमुक्तावली	,, ,, ,,
४.पुष्टिप्रवाहमर्यादा	,, ,, ,,
५.सिद्धान्तरहस्य	२ तथा ४ केलिए
६.नवरत्न	भक्तिवर्धिन्युक्त पांचोकेलिए
७.अन्त:करणप्रबोध	,, ,, ,,
८.विवेकधैर्याश्रय	विशेषत: ४ और ५, सामान्यता सभीकेलिए
९.कृष्णाश्रय	सभीकेलिए
१०.चतुश्लोकी	२ तथा ४ केलिए
११.भक्तिवर्धिनी	सभीकेलिए
१२.जलभेद	,, ,, ,,
१३.पञ्चपद्यानि	,, ,, ,,
१४.सन्न्यासनिर्णय	१, ३ तथा ५केलिए
१५.निरोधलक्षण	सभीकेलिए
१६.सेवाफल	२ तथा ४ केलिए

इस तालिकापर भी दृष्टिपात कर लेनेसे अब निरोधलक्षण ग्रन्थकी सर्वविध अधिकारियोंकेलिए उपयोगिता मान्य करनेपर इसके तात्पर्यनिर्धारणमें क्लेश नहीं रह जाता है.

जो भक्त अपने गार्हस्थ्यके साथ, राजादुबे–माधौदुबेकी तरह, घरमें भगवान्की सेवा और कथा दोनोंको निभा पाते हों, उनकेलिए गृहत्याग निरर्थक हो जाता है. क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे सेवाकथाके सतत आवर्तनसे ही उन्हें प्रपञ्चकी विस्मृति और भगवान् में आसक्ति दृढ़ हो जाती है. यह मुख्य कल्प है.

स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभनेपर, परगृहमें उस गृहस्वामी भगवदीयके परिचारक बनकर उसकेद्वारा की जाती भगवत्सेवामें सहयोग देना अर्थात् परिचर्या करना;

और जब वह भगवत्कथा करता हो तब श्रोताके रूपमें उसमें सम्मिलित होना, यह भगवदीय पड़ोसीके निकट रहनेवाले अजातव्यसन भक्तिमार्गीय जीवकेलिए आवश्यक माना गया है. निरोधकी सिद्धिकेलिए यह भी एक गौणकल्प स्वीकारा गया है, गृहत्यागके विकल्परूपमें.

भक्तिवर्धिनीमें इन दोनों कल्पोंको (अर्थात् स्वगृहमें भगवत्सेवा-कथामय जीवनयापन, अन्यथा ऐसे किसी भगवदीयके समीप घर बनाकर रहना और परिचर्यार्थ एवम् कथाश्रवणार्थ उस भगवदीयके समीप घर बनकर रहना और परिचर्यार्थ एवम् कथाश्रवणार्थ उस भगवदीयका सङ्ग करना, यों दोनों कल्पोंको) लक्ष्यमें रखकर-''सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम'' आश्वासनद्वारा श्रीमहाप्रभु निरोधसिद्धिकी बात ही समझा रहे हैं. क्योंकि निरोधके अभावमें-''हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्'' इस निरोधलक्षण ग्रन्थके वचनके अनुसार भवसागरमें मग्न होना निश्चित माना गया है. अत: परगृहमें भी भगवत्परिचर्या तथा भगवत्कथाश्रवण की प्रणालीसे निरोधकी सिद्धि स्वीकारनी ही पड़ती है.

कार्यलक्षण:

कारण और स्वरूप के विमर्शके बाद अब निरोधके कार्य अर्थात् इसके कारण पैदा होनेवाले प्रभावोंका विचार आवश्यक हो जाता है.

जो भक्त प्रपञ्चकी विस्मृतिके साथ भगवान्में आसक्ति जोड़ पाता है, उसे भगवान्के संयोग एवम् वियोग की अनुभूति तीव्रतासे होने लगती है. जैसे कि व्रजभक्तोंके बारेमें वर्णन मिलता है-''गोपीनां परमानन्द: आसीद् गोविन्ददर्शने क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्'' (भा. १०।१९।१६). भक्तिवर्धिनीमें इस अवस्थाको 'व्यसनदशा' कहा गया है. निरोधका स्वरूप निष्पन्न होते ही निरोधका प्रभाव अर्थात् व्यसनदशा व्यक्त होने लग जाती है. भगवत्संयोगमें परमानन्दकी अनुभूति और एक क्षण भी भगवद्वियोग सह न पाना यह निरोधका कार्य माना गया है-''भगवद्विरहसामयिक-परमदु:खकारणत्वे सति भगवत्संयोगसामयिकपरमानन्दसाधकत्वं निरोधत्वम्'' (निर्णयार्णव).

भगवदनवतार-कालमें भगवत्सेवाका अवसर भगवत्संयोगानुभूति है तथा अनवसर वियोगानुभूति है. अत: कार्यलक्षण भी अवतारकाल और अनवतारकाल दोनों परिस्थितियोंमें उपपन्न हो जाता है.

प्रयोजनलक्षण:

भागवतमें तथा भागवतार्थनिबन्धमें भी निरोधका प्रयोजन मुक्ति एवम् आश्रयभावापत्ति स्वीकारा गया है-''निरोधोस्यानुशयनमात्मन: सह शक्तिभि: मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:, अभावश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रय: परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते'' (भा. २।१०।६-७). इसी तरह भागवतार्थ-निबन्धमें भी कहा गया है-''भक्ता: पूर्वत्र निर्दिष्टा: ते रोद्धव्या: विमुक्तये, कृष्णे निरुद्धकरणात् भक्ता: मुक्ता: भवन्ति हि'' (भा. नि. १०।१५-१६) और ''हरिराश्रय इत्युक्तो मुक्तानामिति वर्णितम्'' (भा. नि. १२।१७).

षोडशग्रन्थकी निरूपणशैलीसे इसमें थोड़ासा यह अन्तर है कि यहां निरोधोत्तर दो अवस्था १.मुक्ति; और २.आश्रयभावापत्ति स्वीकारी गई हैं. षोडशग्रन्थमें जबकि निरोध लक्षण ग्रन्थके बाद आते सेवाफल ग्रन्थमें सेवाके तीन फल १.अलौकिक सामर्थ्य, २.सायुज्य; और ३.वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेहो स्वीकारे गये हैं. स्पष्ट है कि इनमें 'सायुज्य' और 'मुक्ति' समानार्थी पद हैं, इसी तरह 'वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह' और 'आश्रयभावापत्ति' भी अन्तत: एक ही अवस्थाके द्योतक है.

जहां तक 'अलौकिक सामर्थ्य' के अलग होनेका प्रश्न है तो उसमें यह ज्ञातव्य है कि भागवतके दशमस्कन्धमें तामस, राजस एवम् सात्त्विक प्रकारके भक्तोंके भक्तिकी प्रेम, आसक्ति एवम् व्यसनदशा का वर्णन क्रमश: प्रमाण, प्रमेय और साधन के रूपमें हुआ है. साधनके बाद तीनों ही प्रकारके भक्तोंकी फलावस्थाका भी वर्णन किया गया है. निरोधकी यही फलावस्था सेवाफलमें अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें वर्णित है. इसे 'व्यसनोत्तर-कृतार्थता' 'सर्वात्मभाव', 'मानसी सेवा' अथवा 'फलनिरोध' कहो बात एक ही बनती है.

षोडशग्रन्थ पुष्टिमार्गीयोंकेलिए श्रीमहाप्रभुने प्रकट किया है. पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थकी-''भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्'' (का. १७) कारिकामें यह समझाया ही गया है कि पुष्टिमार्गमें फल स्वयम् भगवान् हैं, वे गुण या स्वरूप के भेदसे जैसे भी इस भूतलपर प्रकट हों, तदनुसार, उन्हें फल माना जाता है. स्वयम् स्वरूपात्मना इस भूतलपर भगवान्‌का भक्तोंके बीच प्रकट होना पुष्टिमार्गीय फल है. इसी तरह गुणगानकी प्रक्रियाद्वारा भी भक्तके हृदयमें भगवान्‌का प्रकट होना फल ही है. दोनों ही तरहके भगवत्प्राकट्यके

कारण भक्त प्रपञ्चको भूलकर भगवदासक्त हो पाता है. हर सूरतमें इस भूतलपर यदि भगवदनुभव नहीं होता तो इस देहके छूटनेके बाद भगवान्में सायुज्यरूप मोक्ष मिलेगा अथवा वैकुण्ठ आदि लोकमे सेवोपयोगी देह मिलेगा. ये दोनों ही फल इस भूतलपर घटित होनेवाली अनुभूति नहीं हैं, अत: पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें परिभाषित पुष्टिमार्गीय फलानुभूतिकी तुलनामें ये कुछ गौण अनुभूतियां हैं. अतएव इन अनुभवोंके सामर्थ्यको 'अलौकिक' नहीं कहा गया है, क्योंकि इनके लौकिक अनुभव होनेकी शङ्का ही नहीं उठ सकती है. फलनिरोध इस भूतलपर होनेवाली अनुभूति है, मानसीसेवाकी तरह, अत: इसके अनुभवको 'अलौकिक-सामर्थ्य' कहा गया है. अन्यथा भूतलपर घटित होती अनुभूतिको कोई लौकिक समझ सकता है. वास्तविकता जबकि यह है कि वह इस लोकमें घटित होनेपर भी अलौकिक घटना ही है.

निरोध अपने दोनों रूप, अर्थात् साधननिरोध एवम् फलनिरोध, में इस लोकमें घटित होनेवाली अलौकिक घटना है. "प्रपञ्चे क्रीडनं हरे:" वचनमें श्रीमहाप्रभु अतएव भारपूर्वक प्रपञ्च अर्थात् इस लोकका उल्लेख करते है. इस भूतलपर भक्तोंके बीच भगवत्क्रीडा साधननिरोध है. और ऐसी लीलाके कारण जब भक्त जगत्को भूलकर जगदीशमें अनन्यतया आसक्त हो जाता है तो वह फलनिरोध है. इस स्पष्टीकरणके बाद निरोधका प्रयोजनलक्षण सुगम हो जाता है.

भगवदवतारकालमें भूतलपर प्रकट होनेवाले भगवद्रूपकी वह लीला कि जिसका प्रयोजन जीवात्माको सर्वात्मभावका दान करना हो वह 'निरोध' कहलाती है. अवतारकालमें सायुज्यमुक्ति या आश्रयभावापत्ति प्रदान करनेकेलिए, जो वियोगानुभव भगवान् कराते है; और इस तरहके तीव्र वियोगमें, भक्तका निरन्तर भगवान्के गुणगानमें तल्लीन हो जाना भी निरोध ही है. ये दोनों तरहके लक्षण भगवदवतारकालके हैं.

अनवतारकालमें लीलाका स्थान तनु-वित्तजा सेवा ले लेती है और गुणगानका स्थान भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-किर्तन ले लेते हैं. तदनुसार निरोधका प्रयोजन सेवाफलमें वर्णित अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य एवम् वैकुण्ठादिलोकमें सेवोपयोगी देहका लाभ माना जाता है.

अवतारकाल हो या अनवतारकाल सच्चे पुष्टिभक्तकी भक्ति निरुपाधिक-निष्कारण-निष्प्रयोजन ही होती है. भक्त केवल भगवान्को ही चाहता है; मुक्तिको नहीं, पर भक्ति अवाञ्छित फलप्रदान करती ही है. यह तृतीयस्कन्धमें

कहा गया है. अत: प्रयोजनलक्षण भक्तके भाव–अभिप्रायको दृष्टिगत रखकर नहीं दिया गया है किन्तु भक्तिके स्वभावको दृष्टिगत कर दिया गया है.

इसके अलावा एक और दृष्टिसे भी निरोधका लक्षण–व्याख्यान किया जा सकता है वह है:

१.करण–निरोध

२.व्यापार–निरोध

३.फल–निरोध

१.करण–निरोध:

सुबोधिनी तथा भागवतार्थनिबन्धके तामसप्रकरणके प्रारम्भमें इस विषयकी विवेचना हुई है कि जीवके स्वभावका बदलना स्वयम् जीवकेलिए सर्वथा अशक्य बात है. अत: जीवके सात्त्विक, राजस या तामस स्वभावोंके अनुरूप स्वरूप धारण कर भगवान् जब भूतलपर प्रकट होते हैं और भक्तोंके बीच लीला करते हैं, तब अपने–अपने स्वभावोंके अनुरूप जीव भगवान्‌के स्वरूप एवम् लीलाओंमें आसक्त हो ही जाते हैं. इस लीलाविहारी श्रीकृष्णमें आसक्तिके कारण प्रापञ्चिक विषयोमें आसक्ति अनायास स्वतएव टूट जाती है. अथवा स्वार्थबुद्धिरहित केवल भगवदुपयोगिताकी भावनामें रूपान्तरित हो जाती है. यह विलक्षण परिवर्तन जिस लीलाके कारण सम्भव होता है, उस भगवल्लीलाको करणात्मक निरोध माना जाता है.

‘करण’ यानि असाधारण कारण. दशमस्कन्धमें वर्णित भक्तों–विशेषत: व्रजभक्तोंको जो प्रपञ्चविस्मृति और कृष्णासक्ति की सिद्धि मिली, उसका असाधारण कारण भक्तस्वभावानुरूप भगवद्रूप एवम् भगवल्लीला ही थे. अतएव कहा गया है–‘‘ते नाधीतश्रुतिगणा: नोपासीतमहत्तमा: अव्रतातप्ततपस: सत्सङ्गान्मामुपागता: केवलेन हि भावेन गोप्य: गाव: नगा मृगा: येन्ये मूढधियो नागा: सिद्धा: मामीयुरञ्जसा, यं न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरै: व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासै: प्राप्नुयाद् यत्नवानपि’’ (भा. ११।१२।७–९). यहां जिस सत्सङ्ग और जिस भाव को स्वप्राप्तिमें भगवान्‌ने साधन माना है, वह स्वयम्‌का लीलात्मक सङ्ग तथा लीलासक्तिरूप भाव ही है. अन्य सभी योग साङ्ख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, व्याख्यान, स्वाध्याय एवम् सन्न्यास रूप साधनोंकी

अकिञ्चित्करता स्वयम् भगवान्‌ने ही वर्णित कर दी है. इसे 'साधननिरोध' अथवा "भगवान्‌का भक्तोंमें निरोध" माना जाता कहा जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि भक्तोंके स्वभावानुरूप भगवान्‌की लीला, भक्तोंके निरोध अर्थात् प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का असाधारण कारण है.

२.व्यापार-निरोध:

कारण दो तरहके होते हैं:१.उपादान २.निमित्त. मिट्‌टी घडेका उपादान कारण होती है. चक्का, दण्डा आदि उपकरण निमित्त कारण माने जाते हैं. निमित्त कारणके निष्क्रिय होनेपर कार्य उत्पन्न नहीं होता. अत: सक्रिय-क्रियाव्यापार करनेवाले कारणको 'करण' या 'उपकरण' कहा जाता है.

भगवल्लीलाको निरोधकी उत्पत्तिमें करण माना गया है. तदनुसार ही कुछ व्यापार भी होना चाहिये. अत: प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति यह भगवल्लीलाका व्यापार है. जैसे चक्केका फिरना या दण्डेसे फिरना, इन व्यापारोंके कारण चक्का-दण्डा आदि उपकरणोंको 'करण' कहा जाता है.

३.फल-निरोध:

भक्तकें स्वभावानुरूप करण-भगवल्लीला और उसके व्यापार-प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके फलस्वरूप भक्तके प्रापञ्चिक विषयोंके सारे बन्धन टूट जाते हैं. इनका अभाव हो जाता है. यह दो प्रकारसे होता है. या तो भक्तसे सम्बन्धित सारे लौकिक पदार्थ और भावों में भगवदावेश अलौकिकता अर्थात् सच्चिदानन्दात्मकता प्रकट हो जाती है; या फिर लौकिक पदार्थ और भावोंसे मुक्त होकर जीव सायुज्य या वैकुण्ठ आदि लोकोंमें सेवोपयोगी देह प्राप्त कर लेता है. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं-"लौकिकेषु तु भावेषु यत्रैव हरिवेशनं निवर्तते तदेवात्र वन्हेर्दारुमयं यथा" (सुबो. १०।५।१). जिन-जिन लौकिक भावोंमें या पदार्थोमें भगवदासक्तिके कारण भगवदावेश हो जाता है उन सभी पदार्थो और भावों में तिरोहित चिदंश और आनन्दांश पुन: प्रकट हो जाता है. यों सच्चिदानन्दांशके पूर्ण प्राकट्यके कारण वे ब्रह्मात्मक हो जाते हैं. काष्ठमें तिरोहित अग्नि जैसे एक बार प्रकट हो जाती है तो काष्ठ स्वयम् अग्निरूप हो जाता है. ऐसे ही जिस भक्तमें प्रपञ्चविस्मृतिके साथ भगवदासक्ति प्रकट हो जाती है, उसके सभी पदार्थ और भाव अन्तत: सच्चिदानन्द ब्रह्मका रूप धारण कर लेते हैं. वैसे भी जगतकी प्रत्येक वस्तुका वास्तविक या आन्तरिक स्वरूप तो ब्रह्मात्मक ही होता है, पर अज्ञानवश हमें विपरीत भान होता है और वह भान

निवृत्त हो जाता है.

अद्वैतियोंके मिथ्या-मायिक प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका बाधज्ञान नहीं है. न नैयायिकोंके अनित्य प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका नाश ही है. साङ्ख्यके प्राकृत प्रपञ्चकी तरह इसे विकृतिका प्रकृतिमें पुन: लीन हो जाना भी माना नहीं जा सकता है. प्रपञ्चके ब्रह्मात्मक हो जानेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि दृष्टा जीवको वह ब्रह्मात्मक होनेपर भी वैसा दिखलाई नहीं देता है, पर निरुद्ध भक्तकी दृष्टिमें अपने प्रियतम परमात्माके अलावा अन्य कुछ आता ही नहीं, फलत: जड़जगतके विभिन्न पदार्थ भी उसे सच्चिदानन्दात्मक दिखलायी पड़ने लगते हैं. इसी तरह जीवजगत्के भी सभी रूपोंमें ब्रह्मात्मकताका भान होने लगता है. जड़-जीवात्मक जगतकी जड़रूपता एवम् दु:खरूपता तिरोहित हो जाती है. इस अर्थमें इस अवस्थाको कभी 'प्रपञ्चप्रलय' या 'प्रपञ्चनाश' कहा जाता है. यह फलनिरोध है अर्थात् भक्तका भगवान्में निरोध है. इसका प्रयोजनलक्षणके अन्तर्गत विचार हुआ है.

दशमस्कन्धमें भगवान्की लीलाका वर्णन चतुर्धा हुआ है:

१.प्रमाण-निरोध

२.प्रमेय-निरोध

३.साधन-निरोध

४.फल-निरोध

१.भगवान्की प्रमाणरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त अपने स्वभावके अनुरूप धारण किये गये भगवद्रूपको जान पाता हैं. अत: ऐसी लीलाको 'प्रमाणनिरोध' कहा जाता है. प्रमाणलीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें प्रेमके रूपमें प्रकट होता है. इसका फल भक्तके हृदयमें प्रमेयकी स्थिरता होती है.

२.भगवान्की प्रमेयरूपा निरोधलीलाके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारण किया गया भगवान्का रूप प्रमेय भक्तके हृदयमें सर्वथा आरूढ हो जाता है. अत: ऐसी लीलाको 'प्रमेयनिरोध' कहा जाता है. प्रमेयलीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें भगवदासक्ति-भगवानसे अलावा अन्य सभी विषयोंमें अरुचि-के रूपमें प्रकट होता है. इसके फलस्वरूप भक्त अपने मनोरथोंके अनुरूप भगवान्के रूपकी प्राप्तिके साधनोंमें जुट जाता है.

३.भगवान्की साधनरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुरुप धारित

भगवान्के रूपकी प्राप्तिके साधनोंमें भक्त तत्पर हो पाता है. अत: ऐसी लीलाको 'साधननिरोध' कहते हैं. साधनलीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें भगवद्व्यसनके रूपमें प्रकट हो जाता है. अब भगवान्के बिना भक्त रह नहीं पाता. फलस्वरूप अपने मनोरथके अनुरूप भगवद्रूप एवम् भगवल्लीलाकी अनुभूति उसे होने लगती है.

४.भगवान्की फलरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारित भगवद्रूपकी लीलामें भक्त सम्मिलित हो पाता है. अत: ऐसी लीलाको 'फलनिरोध' कहा जाता है. फलात्मिका लीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें मानसी सेवा, सर्वात्मभाव आदिके रूपमें प्रकट होता है. फलस्वरूप भगवान्के बाह्य-आभ्यन्तर अनुभवोंका चक्र भक्तके हृदयमें निरन्तर चलने लग जाता है. भक्त भगवान्में तन्मनस्क तदालाप तद्विचेष्ट तदात्मक तद्गुणगानपरायण होकर अपने देह-गेहकी सुध-बुध खो देता है भजनानन्दकी इस पराकाष्ठाकी तुलनामें भक्तको ब्रह्मानन्द कभी सुहाता नहीं है ब्रह्मानन्दमें एकरसता होती है शुद्ध-अद्वैतरूप, जबकि भजनानन्दमें अनेकविध मधुरता रहती हैं:द्वैतरूप भी और अद्वैतरूप भी

सायुज्यरूप मोक्ष अथवा ब्रह्मभावापत्तिरूप वैकुण्ठादि लोकमें सेवोपयोगीदेह भी इस पूर्वोक्त अलौकिक-सामर्थ्यकी तुलनामें भक्तके मनको लुभावने नहीं लगते हैं. भगवत्संयोग सेवा और भगवद्वियोग कथाके अहर्निश चलते चक्रसे बढ़कर केवल विप्रयोगको माना नहीं जा सकता है. यही कारण है कि मुक्ति या आश्रयभावापत्ति की ओर ले जानेवाले भ्रमरगीतमें वर्णित वियोगका स्थान फलप्रकरणमें न हो कर प्रमेयप्रकरणमें है.

मय्यावेश्य मन: कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्, अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामवाप्स्यथ'' (भा. १०।४७।३७) की सुबोधिनीमें इस अवस्थाकी व्याख्या करते हुए श्रीमहाप्रभु कहते हैं-अहं हि कृत्स्न: प्रसादेनापि प्राप्त: कृत्स्नेनैव साधनेन प्राप्तुं योग्य: साच कृत्स्नता अस्यामेवावस्थायां भवति नान्यथा''. अर्थात् तामसफलप्रकरणमें भगवान्के रसात्मक रूपका अनुभव यद्यपि पूर्णतया हो ही गया था, किन्तु वह साधनावस्थाके बाद फलावस्थाके क्रमानुसार न होकर भगवदनुग्रहवश साधनाचरणकी पूर्णतासे पूर्व ही फलानुभूतिके सम्पन्न हो जानेकी लीला थी. अब राजसप्रमेय-प्रकरणमें, अर्थात् जो राजस भक्तोंकेलिए प्रमेयरूपा निरोधलीलाका प्रकरण है, वहां तामसभक्तोंकी तो फलानुभूतिका नहीं किन्तु साधनानुभूतिका ही स्तर हैं.

“आन्तरं तु परं फलम्” (सुबो. १०।२६।१) अथवा युगलगीतमें वर्णित “द्वत्रिंशेऽन्तर्गोपिकानां स्वानन्दं भगवान् हृदि पूरयामास तेनैव पूर्णानन्द इतीर्यते” वाला परमफलात्मक वियोग भ्रमरगीतमें वर्णित वियोग, नहीं है. अतएव श्रीप्रभुचरणने इस वियोगानुभूतिका वास्तविक स्वरूप इन शब्दोंमें समझाया है-“एतासां तु अधुनैव बहिस्सङ्गमो अभिलषित: तदभावादस्मदनभिप्रेतामपि अस्मदधिकारविरुद्धामपि ज्ञात्वा ईश्वरभावेनाज्ञापितवान्, अनभिप्रेतमपि बलाद् ग्राहयितुम् इति अनाकर्णनीम् इदं भवति यद्यपि, तथापि प्रियतमसम्बन्धित्वेनैव श्रुतत्वात् तथैव फलिष्यति. नतु उपदेशत्वेनेति ज्ञापनायाग्रे सन्देशपदम्” (टिप्प. १०।४४।२९). प्रमेयस्वभावके विवश व्रजभक्तोंने वियोग स्वीकारा है निज भाव या अभिलाषा के वश नहीं. भगवत्कथाके श्रवण या कीर्तन का फल, भगवत्स्वरूप एवम् भगवल्लीलाका पहले आन्तर और बादमें बाह्य अनुभव स्वीकारा गया है. बाह्यानुभवके अभावमें केवल आन्तर व्यर्थ होता है-“बाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता” (सुबो. १।६।१).

इस आन्तर अनुभव और बाह्य अनुभव के सूक्ष्म रहस्यको समझनेकेलिए निरोधके दो और भी रूपोंकों समझना आवश्यक हो जाता है:

क.स्वरूप-गुण-उभयकृत निरोध

ख.केवल गुणकृतनिरोध

क.तामसफलप्रकरणके विवेचनमें श्रीमहाप्रभुने यह समझाया है कि यहां सात अध्यायोंमें अर्थात् २६ वें अध्यायसे लेकर ३२ वें अध्याय तक, क्रमश: १.ऐश्वर्य, २.वीर्य, ३.यश, ४.श्री, ५.धर्मी, ६.वैराग्य, ७.ज्ञान यों छह भगवद्गुण और सातवें स्वयम् धर्मी भगवान्के स्वरूपका वर्णन अभिप्रेत है.

इस फलरूपा निरोधलीलाके स्वरूपका भलीभांति विमर्श करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि सातों अध्यायोंमें फलरूपलीलाका ही वर्णन अभिप्रेत होनेपर भी धर्मिनिरूपक पांचवे अध्याय तथा ज्ञाननिरूपक सातवें अध्यायका कुछ विशिष्ट महत्त्व है ही. अतएव प्रारम्भमें रूपलीलाके ‘बाह्याभ्यन्तरभेदेन’ जो दो प्रकार दिखलाये गये हैं, वे इन दो अध्यायोंमें चरमोत्कर्षके रूपमें वर्णित हुए है. धर्मिप्रकरणमें बाह्य संयोगसुखका तथा ज्ञानप्रकरणमें आन्तर संयोगका वर्णन हुआ है.

“ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत् परिवर्तते” की उक्तिके अनुसार यहां परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनोंमें संयोगसुखका ही वर्णन अभिप्रेत है. अतएव इसे फलप्रकरण माना गया है.

ख.इसके विपरीत राजसप्रमेय प्रकरणमें व्रजभक्तोंकी अनुभूतिका स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इन शब्दोंमें दिया है–“अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा, द्वयमेव, नतु तासामन्या लौकिकी अवस्था” (सुबो. १०।४४।४८). यहां पूर्वोद्धृत “आन्तरं तु परं फलम्” वचनके आधारपर अन्तर्निष्ठाको तो परमफलरूप मानना ही पडेगा. परन्तु द्वितीयांश विरहकी फलरूप माननेका कोई भी आधार मिलता नहीं है. यह विरह अत: फलरूप न होकर पूर्ववर्णित ‘साधनकृत्स्नता’ ही है. इसीलिए श्रीमहाप्रभु इसे ‘फलरूप’ न कहकर ‘फलसाधक’ कहते हैं.–“...फलसाधकत्वाद् भक्तिमार्गे विरह एव पुरुषार्थ..” विरहावस्थामें किये जाते गुणगानके सुख और भगवत्स्वरूपानुभवके सुखका परस्पर तारतम्य समझाते हुए श्रीमहाप्रभु कहते हैं.– “परं विरलममृतम्. केवल मरणोपस्थितौ तन्निवर्तकमेवेति, नतु सम्भूयैकत्र रसजनकम्. रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेष:. अन्यथा कथार्थमेव यत्न: कृत: स्यात्. परं विरहे मरणनिवर्तकत्वेन तदुपयोग इति भगवत्त्वेन स्तूयते”. भगवत्कथाके श्रवण–स्मरण–कीर्तनके कारण भक्तके प्राण तीव्र विरहवेदनामें भी निकल नहीं जाते टिके रहते है. एतावता भगवान्की तरह भगवद्गुणगानकी भी प्रशंसाकी जाती है. वास्तविकता परन्तु यह है कि भगवत्स्वरूपकी रसानुभूतिमें सुख घनीभूत होता है और भगवत्कथामें वह तरल हो जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि केवल गुणकृत निरोधमें बाह्य एवम् आन्तर संयोग सुखकी फलानुभूतिका चक्र सतत नहीं चलता. वहां विरहदु:ख और अन्तर्निष्ठाके संयोगसुखका चक्रवत् आवर्तन चलता है. अत: इसके अर्धांशमें साधनरूपता और अर्धांशमें फलरूपता है. जबकि रसात्मक होनेके कारण द्विदलात्मक; और द्विदलात्मक होनेके कारण संयोग–वियोगात्मक या ‘नटवर’ वपु रूप भगवान्का फलरूप होना वियोगमें अन्तर्निष्ठके कारण मिलते आन्तर संयोगसुख और संयोगमें स्वरूपानुभूतिके कारण मिलते बाह्य संयोगसुखको लक्ष्यमें रखकर स्वीकारा गया है. आन्तरसुख–दान रसनाटन है तथा बाह्यसुखदान रसरूप प्रत्यग्रभोग है. यह ‘बर्हापीडं’ श्लोककी सुबोधिनीसे सिद्ध होता है. अत: उत्तरदलमें अन्तर्निष्ठाके अंशमें फलरूपता तथा विरहांश या धर्मिविप्रयोग के अंशमें साधनरूपता है. केवल विरहके फलरूप होनेका उल्लेख श्रीमहाप्रभु अथवा श्रीप्रभुचरणके किसी भी वचनमें मिलता नहीं है. आन्तर संयोग सुख प्रदान करनेवाला विप्रयोग स्वतन्त्र अङ्गीरूप निरोध है. जबकि केवल विरह आन्तरसंयोग–सुखके अभावके कारण, मुक्ति या आश्रयभावापत्ति का अङ्गरूप निरोध माना जाता है. इसे ‘केवलगुण–कृत निरोध’, ‘धर्मिविप्रयोग’ ‘केवल विरह’, ‘मुक्त्यङ्ग निरोध’ या

‘‘आश्रयभावापत्त्यङ्ग निरोध’’ कुछ भी कहो अर्थ एक ही होता है.

इस तरह निरोधके कारण-स्वरूप-कार्य-प्रयोजन-रूप चतुर्विध लक्षण, त्रिविध स्वरूप कारण-व्यापार-फल-रूप; तथा स्वरूप-गुण-उभयकृत और केवलगुणकृत निरोधके रूपमें अनेकधा भेद-उपभेदोंके विस्तृत विमर्श करनेपर निरोधलक्षण ग्रन्थको समझना एकदम सरल हो जाता है. फिरभी ग्रन्थके अनुवादसे पूर्व एक और स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है. उसे देखनेके बाद ही ग्रन्थानुवाद देखेंगे.

वैसे तो हमने देख ही लिया कि निरोधलक्षण, भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें वर्णित पांचों प्रकारके अधिकारियोंको लक्ष्यमें रखकर उपदिष्ट हुआ है. फिरभी इसे सोपपत्तिक समझ लेना अत्यावश्यक है. सन्न्यासनिर्णय ग्रन्थके-‘‘कौण्डिन्यो गोपिका: प्रोक्ता: गुरव: साधनं च तद्भावो भावनया सिद्ध:’’ वचनमें व्रजभक्तोंके भावोंका भावनात्मक अनुसरण विरहानुभवार्थं गृहत्याग करनेवालोंकेलिए आवश्यक माना गया था. व्रजभक्तोंके भावोंकी भावना केवल गृहत्यागियोंकेलिए ही है ऐसा नहीं समझना चाहिये. क्योंकि ‘भजनीयो व्रजाधिप:’ कहकर व्रजभावनाकी उपयोगिता सभी पुष्टिभक्तोंकेलिए सर्वदा ही चतुश्लोकीमें आवश्यक मानी गयी है. इसी तरह पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें पुष्टिजीवोंके फलानुभवके प्रकारमें गुण-स्वरूपका प्रभेद मान्य हुआ ही है. ‘‘स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्’’ वचनद्वारा भगवत्सेवा-कथाकी आवश्यकता चतुश्लोकीमें प्रतिपादित हुई है. अत: सेवा और कथा दोनोंमें ही व्रजभावना आवश्यक है. अत: इस निरोधलक्षण ग्रन्थमें सभीकेलिए सर्वप्रथम व्रजभावनाका स्वरूप समझाया जा रहा है.

निरोधकार्य संयोगसुख-वियोगदु:खकी भावना:

जिन भक्तोंसे सेवा और कथा दोनों निभ पाती हों उन्हें अपने भावके अनुरूप सेवा करते समय गोकुलकी भावना और कथा के समय वृन्दावनकी भावना करनी चाहिये.

गोचारणकेलिए प्रतिदिन भगवान् वृन्दावन पधारते है. तब गोकुलमें वात्सल्यभाववाले नन्द-यशोदा आदि भक्तोंको तथा शृङ्गारभाववाली गोपिकाओंको जैसे विप्रयोगदु:खकी अनुभूति होती है, वैसी दु:खानुभूति विरहवेदना हमें कथाकालमें कब होगी

सायंकाल गोचारण कर भगवान् गोकुल लोटते हैं. तब गोकुलमें गोपिकाओंको

तथा अन्य भी सभी व्रजवासियोंको अनेक रीतिसे भगवत्सेवाद्वारा जैसा संयोगसुख मिलता है, वैसा सुख सेवाके समय भगवान् मुझे कब प्रदान करेंगे

इस तरह तामसफलप्रकरणके "ज्ञानं भक्तिश्च: सततं चक्रवत्परिवर्तते" वचनमें वर्णित संयोग-वियोग-रूप अवस्थामें निरोधके कार्य सुख-दु:खकी भावना करनी चाहिये.

जिन भक्तोंसे सेवा-कथा एक साथ नहीं निभ पाती, ऐसे मध्यमाधिकारियोंको पहले, राजसप्रमेयप्रकरणमें वर्णित तीव्र विप्रयोग वेदनाकी भावना करनी चाहिये; और बादमें कथाश्रवणकालमें अन्तर्निष्ठाके साथ आन्तरसंयोग सुखकी भावना करनी चाहिये.

उद्धवके व्रज आनेपर उनके साथ भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जैसा एक सुमहान् उत्सव प्रकट हुआ, वैसे उत्सवकी अनुभूति कथा-श्रवण करते समय हमारे मनमें कब होगी गोकुलमें साख्य-वात्सल्य-भाववाले व्रजभक्तोंको और वृन्दावनमें सख्य-माधुर्य-भाववाले व्रजभक्तोंको उद्धवके साथ भगवद्गुणगान करते समय जैसा आल्हाद अनुभूत हुआ वह मेरे हृदयमें कब प्रकट होगा

केवल कथाका समाश्रयण करनेवाले भक्तको ऐसी भावना करनी चाहिये. इस तरह यहां निरोधका कार्यलक्षण श्रीमहाप्रभुने सूचित किया है.

निरोधके कारणभूत गुणगानकी आवश्यकता:

कार्यलक्षणको सूचित करनेके बाद श्रीमहाप्रभु निरोधके कारणलक्षणको सूचित करना चाहते हैं.

पूर्वोक्त भावनाओंको करते रहनेपर भी हृदयमें भावोंका उदय सहसा नहीं हो पाता है. महान् भक्तोंकी कृपा होनेपर ही भगवान् ऐसी दया हमपर करते हैं कि हमारे हृदयमें भाव अङ्कुरित हो पाते हैं. इस बीच आनन्दसन्दोह-सुखसिन्धु भगवान् श्रीव्रजाधिपके रूप, गुण, लीला एवम् नामोंका सङ्कीर्तन हमें करना चाहिये. इससे भक्तिमार्गपर हमारी यात्रामें हम सुखपूर्वक आगे बढ़ पायेंगे.

श्रीप्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि "तादृशी भावना कार्या यया भावाङ्कुरोदय:, श्रीमदाचार्यकृपया भवेद् भावो न चान्यथा... भावो भावनया सिद्ध इति वाक्यात्प्रतीयते, तद्वाक्यपरिनिष्ठानां हृदि भावाङ्कुरो भवेत्". अत: श्रीमदाचार्यचरण, श्रीयमुना तथा पुष्टिपथ के आद्यपथिक-गुरु श्रीव्रजभक्तोंकी कृपा होनेपर भगवत्कृपाभाजन

बननेका अधिकार प्राप्त होता है.

घी चुपड़ी हुई गरम रोटी और रूखी-सूखी बासी रोटीके स्वादमें बहुत अन्तर पड जाता है. इसी तरह स्नेहभावकी ऊष्मावाले पूर्ण भगवदीयोंके मुखसे, उनकी कृपादृष्टिकी स्निग्धताके साथ, भगवत्कीर्तनका श्रवण जितना सुखद होता है, उतना लौकिक प्रयोजनकी पूर्तिकेलिए ठण्डें दीमागसे जोड़तोड़ बैंठाकर, भगवत्कथामें प्रवृत्त होनेवाले व्यक्तिके मुखसे भगवत्कथा सुनना सुखद नहीं होता. वह तो रूक्ष कीर्तन लगता है. भगवान् गोविन्दके गुणगानमें जैसा सुख श्रीशुकमुनि जैंसे निर्ग्रन्थ आत्माराम मुनियोंको मिलता हैं, वैसा उन्हें अपनी ब्रह्मात्मैक्यकी अनुभूतिमें भी नहीं मिलता हैं. अतएव श्रीशुकके-"परिनिष्ठतोपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्" (भा. २।१।९) वचनकी व्याख्यामें श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है "आत्मलाभसे उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है. ऐसे शास्त्रीय वचनोंके अनुसांर आत्मपर्यवसायी गुणातीत समाधिमें नित्य स्थित होनेपर भी भागवतके रसकी अनुभूति होनेपर, उसकी अप्राकृतता-दिव्यता समझमें आनेपर, श्रीशुकको यह समझमें आया कि ब्रह्ममें लीन होनेवालेको जब समाधि-अवस्थाकी गरज नहीं रह जाती, तब ब्रह्मानन्दसे भी अधिक रसप्रद भागवतके कथारसको छोडकर कौन समाधिके चक्करमें पडे"

इस भगवद्गुणगानके कारण भक्तके हृदयमें भगवदासक्तिरूप स्थायी भाव, जब भगवद्विरहक्लेशके कारण तापयुक्त हो जाता है, तब हृदयमें छिपे हुए भावात्मा भगवान् सदानन्द श्रीकृष्ण कृपायुक्त होकर बाहर प्रकट हो जाते हैं, आलम्बन-विभावके रूपमें.

भावात्मना हृदयमें बिराजें अथवा भावके आलम्बनात्मना बाहर प्रकट हों, भगवान् सर्वत: सर्वथा आनन्दमय ही होते हैं. इस आनन्दमय परमात्माका सर्वात्मभावके रूपमें प्राकट्य उस परमात्माकी परमकृपामयी आनन्दानुभूति है. यह कृपा सुदुर्लभ है. भक्तके हृदयमें भावके रूपमें भरा हुआ सेतु, भगवद्गुणगानके श्रवण-कीर्तनके सरित्प्रवाहसे अहर्निश भरे जानेपर एक दिन छलक जाता है इस तरह कि भक्तके देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण, आत्मा तथा अन्य भी आत्मीय वस्तुओंको वह अपनी अलौकिक रसानुभूतिसे प्लावित कर देता है

अत: सदानन्द श्रीकृष्णकेद्वारा निरुद्ध अर्थात् पुष्टिमार्गमें अङ्गीकृत जीवोंको चाहिये कि सारी लौकिक आसक्तियोंको छोड़कर केवल भगवान्के गुणगानमें वे तत्पर हो जायें. गुणगानके कारण अन्तत: सर्वत्र ब्रह्मरूपताकी अनुभूति भक्तको

अपने देह, इन्द्रिय, अन्त:करण तथा आत्मा से भी होने लगेगी. प्रपञ्चकी अनुभूति रह ही नहीं जाती तो स्मृति कहांसे होगी? फलस्वरूप प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति रूप निरोध सिद्ध हो जाता है.

निरोधके वास्तविक स्वरूपके उपदेशक श्रीमहाप्रभु:

छान्दोग्योपनिषद्में आता है कि देवता देवविद्या और आत्मविद्या का उपदेश तो कर सकते हैं, पर गति तो आचार्य ही दिखला सकते हैं, आचार्यसे जब विद्या मिलती है तो वह सिद्धतम होती है-"ते होचुरुपकौसलैषा सौम्य तेऽस्मद्विद्या आत्मविद्या च, आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" (४।१४।१) "आचार्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्टं प्रापतीति" (४।९।३).

भागवत (५।१२।१२) में भी गुरुकृपाकी महत्ता महत्पादरजोभिषेकके रूपमें प्रशंसित हुई है-"रहगणैतत् तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्. यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवाद: प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविधात: निषेव्यमाणोनुदिनं मुमुक्षोर्मतीं सतीं यच्छति वासुदेवे".

इससे सिद्ध होता है कि भगवन्मार्गमे आचार्यकी महत्ता असाधारण है अत: स्वयम् भगवान्‌ने भी आज्ञा दी है कि "आचार्य मां विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित् न मर्त्यबुद्धयासूयेत सर्वदेवमयो गुरु:" (भा. ११।१७।२७). अर्थात् आचार्यको साक्षाद् भगवद्रूप ही समझना चाहिये-मर्त्यबुद्धिसे आचार्यको देखना आचार्यके साथ असूयाका व्यवहार है. आचार्यके माध्यमसे ही भगवान् अपनी गति व्यक्त करते हैं-"आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति" (भा. ११।२९।६).

निरोधके कारणलक्षणमें यह समझाया गया था कि इस भूतलपर भक्तोंके बीच भगवान्‌का प्रकट होना करणनिरोध है, अर्थात् भगवान्‌का भक्तोंमें निरुद्ध होजाना है. अतएव श्रीमदाचार्यचरणका भूतलपर प्रकट होना उनका भक्तोंमें निरुद्ध होना ही है. इसे सर्वोत्तमस्तोत्रके चार नामों-"श्रीभागवतगूढार्थ-प्रकाशन-परायण:", "जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्" तथा "सर्वासक्तो भक्तमात्रासक्त:" के अवलोकन करनेपर अच्छी तरह समझा जा सकता है.

श्रीप्रभुचरणने अतएव वल्लभाष्टकमें-"घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजा: प्राप्नुयु: नैव दैवीसृष्टिर्व्यर्था च भूयान्निजफलरहिता देव वैश्वानरैषा" कह कर श्रीमदाचार्यचरणके प्राकटयके करणनिरोध होनेकी पुष्टि की है. स्वयम् श्रीमदाचार्यचरणने भी-"अर्थं तस्य विवेचितुं नहि विभु: वैश्वानराद्वाक्पते: अन्यस्तत्र

विधाय मानुषतनुं मां व्यासवत् श्रीपतिः दत्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुः यस्मादतोहं मुदा गूढार्थं प्रकटीकरोमि'' (सुबो. १।१।१) कह कर अपने प्राकट्यकी निरोधरूपता ही ध्वनित की है. वही करणनिरोधरूपता अपने प्राकट्यकी श्रीमहाप्रभु 'अहं निरुद्धो' वचनद्वारा यहां सूचित कर रहे हैं.

पुष्टिमार्गीय जीवोंकी भगवदासक्ति और प्रपञ्चविस्मृति में कहीं कोई बाधा न आ जाये एतदर्थ अपने पृथ्वीपरिक्रमा करके उनके समक्ष स्वयम् भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा के अलावा अन्य सभी वस्तुओंकी विस्तृतिका उदाहरण स्थापित किया. इस व्यापारनिरोधको ही यहां 'रोधेन' पदद्वारा सूचित करते है.

इस व्यापारनिरोधके कारण ही फलनिरोध भी आपके अनुयायीओंमें प्रकट हुआ है. इसका सूचन सर्वोत्तमस्तोत्रमें-''सान्निध्यमात्र-दत्त

-श्रीकृष्णप्रेमा'' द्वारा श्रीप्रभुचरणने भी किया हैं. यही 'निरोधपदवी' है, जिसे श्रीमहाप्रभुने पुष्टिमार्गमें भगवान्‌के द्वारा निरुद्ध या अङ्गीकृत दैवी जीवोंके निरोधकेलिए धारण की है-''रोधेन निरुद्धः निरुद्धानां तु रोधाय निरोधपदवीं गतो अहं ते निरोधं वर्णयामि''.

अथवा वार्तामें हम देख गये हैं कि राजा-माधौ दवेको अपने आज्ञा दी थी-''अब अपने घर जाय सेवा करो, दैवी जीव आवें तीनकों नाम दीजो. तुमको निरोध सिद्ध भयो और जो तिहारो सङ्ग करेगो ताहूंको निरोध सिद्ध होयगो'' यदि यही भाव यहां भी स्वीकारें तो अन्वय यों होगा-''रोधेन निरुद्धो निरोधपदवीं गतो अहं निरुद्धानां तु रोधाय ते निरोधं वर्णयामि''. जैसे श्रीमहाप्रभुजीकी सेवा कथामय दिनचर्या-करणनिरोध तथा व्यापारनिरोध-से राजामाधौ दवेको फलनिरोध-प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति सिद्ध हुई थी, वैसे ही राजा-माधौ दवेके सेवा-कथामय जीवनसे पुष्टिमार्गमें निरुद्ध अनेक जीवोंको प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्तिका लाभ होगा. यह वरदान श्रीमहाप्रभु इस श्लोकमें दे रहे हैं.

निरोधका स्वरूपः

मुक्ति और आश्रयभावापत्ति, (अर्थात् सायुज्य और वैकुण्ठादि लोकमें सेवोपयोगीदेह) की प्राप्तिकी तुलना में, निरोधकी महत्ता यही है कि वह इस भूतलपर होनेवाली भगवदनुभूति है, जीवन्मुक्तिकी तरह.

सायुज्यमुक्तिमें जीवात्मा परमात्मामें लीन हो जाती है. भक्तके हृदयमें किन्तु

ऐसे मनोरथ नहीं चल सकते. भगवान् स्वयम् कहते हैं कि ‘‘अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुक्ते’’ (भाग ३।२५।३६). अतएव वेणुगीतकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने निरोध और मुक्ति की तुलना: नेत्रवान् व्यक्तिको किसी सुरम्य दर्शनीय स्थल दिखाने और उसे निबिड अन्धकारवाले कूपमें बन्द कर देने से की है–‘‘इदमेव इन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा यथान्धकारे नियता स्थिति: नाक्ष्णो: फलं भवेत् एवं मोक्षोपि इन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा नहि’’.

इसी तरह आश्रयभावापत्तिके भी अनेक प्रकार वर्णित हुए हैं. उनमें, वैकुण्ठादि लोकोमें नूतन सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह, यदि सेवोपयोगि मिलता हो तो, ऐसे दिव्य देहेन्द्रियोंसे भगवदासक्ति तो सम्भव है ही, अत: उसे भक्त भी स्वीकार सकता हैं. तात्कालिक आवश्यकता परन्तु भक्तको इस भूतलपर इन देहेन्द्रियोंसे अपने प्रियतम परमात्माके अनुभूतिकी है.

प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिसे जीवके सम्पन्न होनेपर यह अनुभूति सम्भव है. अन्यथा श्रीहरि जिन्हें विनिर्मुक्त करते हैं, अर्थात् जिन्हें निरुद्ध नहीं करते, वे भवसागरमें मग्न हो जाते हैं–डूब जाते हैं. यहां इस भूतलपर भगवान्‌की आन्तर एवम् बाह्य संयोगानुभूतिके कारण; अथवा सेवा और कथा के कारण अहर्निश मोदप्रमोदका अनुभव तो भगवान्‌के द्वारा निरुद्ध जीव ही कर पाते हैं.

लौकिक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दोंमें आसक्त अर्थात् संसारावेशसे दूषित हमारी इन्द्रियोंकी दर्शनरति, आस्वादनरति, आघ्राणरति, स्पर्शनरति, श्रवणरति, या अन्य भी कर्मेन्द्रियोंके एवम् अन्त:करणके व्यापारोंमें रतिओंका अहित दो तरहसे हो सकता है:या तो उन्हें किसी भी प्रकारके निग्रहके बिना लौकिक शुद्र सुखोंकी खोजमें निरन्तर भटकते रहने दिया जाये; या फिर उनका पूर्णतया निग्रह करके उन्हे सर्वथा खतम ही कर दिया जाये, विषयव्यामुख करनेके बजाय. विषयोंसे व्यामुख करनेकी बात तो समझमें आ सकती है पर नेत्रोंको दर्शनरतिसे वञ्चित करनेंमें नेत्रवान्‌को क्या लाभ हो सकता है? इन्द्रियवृत्तियोंका ऐसा दमन या निरोध ‘कूयोग’ कहलाता है. श्रीमहाप्रभु कहते हैं–‘‘सर्वेषामेव निरोधने तत्तदधिष्ठातृदेवद्रोहो भवत्येव भगवत्समर्पणे तु तद्वचनेन तदुक्तमेव कृतमिति न कोपि दोष: सम्भवति’’ (सुबो. २।४।१७) इन्द्रियोंकी रत्यात्मक वृत्तियोंका दमन उचित नहीं है. इसी तरह लौकिक विषयोंमें इन्द्रियवृत्तियोंका दुरुपयोग भी उचित नहीं हैं. अत: इनके दुरुपयोग या अनुपयोग के बजाय कुछ भगवदुपयोग खोज लेनेपर इनका सदुपयोग हो जाता है.

सुबोधिनी (३।१४।४६) में श्रीमहाप्रभुने इसका विस्तृत निरूपण किया है- “प्राणियोंमें सतरह तरहकी वृत्तियां होती हैं:दस कर्मज्ञान्द्रियोंकी वृत्तियां, चार अन्त:करणकी वृत्तियां, एक देह सम्बन्धी वृत्ति, एक प्राणसम्बन्धी वृत्ति और एक आत्मसम्बन्धी वृत्ति. इन सभी वृत्तियोंको भगवत्सम्बन्धी-भगवद्विषयक बनानेसे सर्वभवनसमर्थ-सर्वभावापन्न भगवान् प्रसन्न होते है”.

यही ‘भूमासुख’ अथवा ‘सर्वात्मभाव’ कहलाता हैं. “भूमासम्प्रदादध्युपदेशात्” (१।३।८) ब्रह्मसूत्रमें यह निरूपण किया गया है कि सभी वृत्तियोंसे भगवदनुभूति भूमासुख है-“यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति”, “यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छ्रूणोति नान्यद्विजानाति स भूमा” (छान्दोग्य. ७।२३।१ और ७।२४।१).

अत: इन्द्रियादिकी वृत्तियोंके सर्वथा अनुपयोग अथवा लौकिक विषयोमें दुरुपयोगमें उनका अहित-अल्पसुख होता है. भूमा-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें उन्हें योजित करना उनका वास्तविक सदुपयोग एवम् हित हैं. इसे ही “प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति” भी कहते हैं. यह भक्तका भगवान्में निरोध है. भगवत्स्वरूपमें यह मुख्य निरोध जिनकेलिए शक्य न हो उन्हे भगवान्के गुणोंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें अपना चित्त लगाना चाहिये. मुरवैरी भगवान्के गुणोंमें आसक्ति और प्रपञ्चविस्मृति सिद्ध हो जानेपर, न तो सांसारिक क्लेशोंकी अनुभूति होगी और न भगवद्विरहक्लेशकी ही. भगवान्के गुणानुवादमें भी साक्षात् भगवान्की तरह सुखदानका सामर्थ्य है.

केवल गुणकृत निरोध:

इस केवलगुणकृत निरोधद्वारा यदि भगवान् सुखदान न करते होते तो उन्हें दयालुके बजाय क्रूर ही मानना पडेगा. क्योंकि प्रपञ्चविस्मरणके कारण लौकिक सुखोंके छूट जानेपर, भगवान् यदि भक्तको भगवत्स्मरणकी प्रक्रियामें सुखदान न करते हों तो, भक्ति दु:खनिवर्तक ही मानी जायेगी, सुखप्रद नहीं. परन्तु गुणकृत निरोधमें भी इतनी सामर्थ्य है कि भक्त सांसारिक क्लेश और भगवद्विरहजन्य क्लेश, दोनोंसे ही उभर सकता है.

भागवत (१०।८७।२०) में कहा गया है:“अपने दुर्ज्ञेय आत्मस्वरूपका भक्तोंको सुखानुभव करानेकेलिए भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं. इन रूपोंमें भगवान् अनेकविध लीला भूतलपर प्रकट करते हैं. ऐसे भगवच्चरित्रके सुखसागरमें तैरनेवाले भक्त भगवान्के चरणसरोजोंके बीच निवास करनेवाले हंस परमहंसोके

कुलमें प्रविष्ट होनेकी कामनासे निजकुल परिवारोंको छोड़ देनेपर भी, अपवर्ग या सायुज्यमुक्तिकी कामना नहीं करते हैं''. यहांकी सुबोधिनीमें कहा गया हैं– ''यतोवतीर्णस्य कृष्णस्य चरित्रमात्रश्रवणेपि तादृश आनन्दो जायते येन विचारका: अपवर्गमपि परमानन्दप्रापकं न परिलर्षान्त कदाचिदपि न वाञ्छन्ति... गृहे हि महत्सुखं भवति. तत्सिद्धं विद्यमानं तदपि परित्यजन्ति. यदि भगवति सहस्रांशेनापि आनन्दसन्देहो भवेत् तर्हि विद्यमानं को वा त्यजेत्... चरणसरोजैकाश्रया ये हंसास्तेषां कुलं समूह: तेषां सङ्गार्थ विसृष्टं स्वगृहं यैस्तै: सह परमानन्दो बहुधा भोक्तव्य इति मोक्षापेक्षयापि भगवत्कथाश्रवणरसोधिको निरूपित:'' अत: केवलगुणकृत निरोधकी अवस्थामें भी, प्रपञ्चविस्मृतिके कारण न तो सांसारिक क्लेशकी अनुभूति होती है; और न भगवद्विरहजन्य क्लेशकी अनुभूति ही होती है, भगवदासक्तिवश होती आन्तर संयोगानुभूतिके कारण.

इस गुणकृत निरोधकी प्रारम्भिक अवस्थामें केवल मन, वाणी और श्रवण इन्द्रियोंका ही भगवान्में विनियोग होता है. सकल इन्द्रियोंका नहीं. ऐसी स्थितिमें अवशिष्ट इन्द्रियां कभी अपने-अपने लौकिक विषयोंमें रही आसक्तिके कारण प्रापञ्चविस्मृति अथवा भगवदासक्तिमें बाधा पहुंचा सकती हैं ऐसी शङ्का गुणकृत निरोधके बारेमें नहीं करनी चाहिये. क्योंकि गुणकृत निरोधमें भी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके एक बार सिद्ध होनेपर, सभी इन्द्रियोंसे 'आसक्तिभ्रमन्याय' (प्रेमी या प्रमिका को गाढ़ आसक्तिके कारण एकदूसरेके आगमनकी या उपस्थितिकी भ्रान्ति जैसे होती रहती है) से भगवान्का अध्यास, या भगवान्के गुणोंका अध्यास, लौकिक विषय-व्यक्तियोंमें तथा लौकिक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि गुणोंमें भी बना ही रहता है. अत: लौकिक विषय इस अध्यासके कारण निरोधमें बाधा उपस्थित नहीं कर सकते.

अतएव छान्दोग्योपनिषद्में इस सर्वात्मभावकी अनुभूतिमें आसक्तिभ्रमन्यायसे होते विभिन्न सञ्चारिभावोंका वर्णन तदादेश अहङ्कारादेश और आत्मादेश के रूपमें किया है-''स एवाधस्तात् स एवोपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात्... स एवेदं सर्वमिति अथातो अहङ्कारादेश एवाहमधस्तादहमुपरिष्टादहम्... अहमेवेदं सर्वमिति. अथात् आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मैवोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ताद्... आत्मैवेदं सर्वमिति. स एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द: स स्वराट् भवति. तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति''. (७।२५।१-२). निरुद्ध भक्तको कभी अपनेसे भिन्न परमात्माकी

अनुभूति सर्वत्र होती है–कभी स्वयम्‌की ही अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है–कभी अपनेसे अभिन्न परमात्माकी अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है रासपञ्चाध्यायीमें भगवान्‌के तिरोहित होनेपर ‘‘कृष्णोहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मना’’ (१०।३०।१९) वचनोंमें गोपिकाओंके इसी तरहके अध्यासका उदाहरण मिलता है.

सर्वविषयोंमें भगवान्‌के अध्यासके कारण पुन: लौकिक विषयासक्तिमें मनकें भटक जानेकी आशङ्का भी नहीं करनी चाहिये. क्योंकि उन लौकिक विषयोंमें लौकिक–विषयत्वेन तो विराग ही रहता है. ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य जैसे भगवद्‌धर्मोके भक्तमें भी आवेशके कारण, इन धर्मोके आवेशसे पूर्व भी परमानन्दरूप भगवान्‌के धर्मरूप स्थायिभाव–भगवद्रतिके कारण भी लौकिक विषयोंमें विराग स्थिर रह सकता है. सर्वात्मभावको भी भगवद्‌धर्मरूप माना गया है, अत: सर्वात्मभावरूप भगवद्‌धर्मके कारण भी लौकिक विषयोंमें विराग स्थिर रह सकता है.

इस विषयवैराग्यके साथ भगवान्‌के गुणोंके अहर्निश श्रवण–स्मरण–किर्तनके कारण गुणोंके माध्यमसे सर्वदु:खहारी श्रीहरिका आन्तर सुखस्पर्श बना ही रहता है. अत: दु:खी होनेका तो कोई सवाल ही नहीं उठता.

सर्वात्मभावकी अनुभूति ज्ञानमार्गमें भी होती है और भक्तिमार्गमें भी. ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभाव शान्तरसात्मक होता है; तथा भक्तिमार्गीय सर्वात्मभाव यथायथ शृङ्गार सख्य, वात्सल्य या दास्य भावात्मक होता है. ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभावमें केवल आत्माना ब्रह्मानन्दकी अनुभूति होती है पर भक्तिमार्गीय सर्वात्मभावमें सर्वेन्द्रिय अन्त:करण तथा आत्मासे भी भजनानन्दकी अनुभूति होती है. अतएव भ्रमरगीतकी सुबोधिनीमें यह कहा गया है कि सकल इन्द्रियोंसे अतीत अधोक्षज भगवान्‌को सकल इन्द्रियोंका विषय बनाना मुनियोंकेलिए भी दुर्लभ अनुभव है, जो गोपिकाओंको सर्वात्मभावके कारण सुलभ हुआ (सुबो. १०।४४।२५–२७). हरिकथा–वर्णनके श्रवण–स्मरण–कीर्तनके कारण पनपे इस सरस निरोधका यह उत्कर्ष, ज्ञानमार्गीय रूक्ष नीरस चित्तवृत्तिके निरोधकी तुलनामें, स्वीकारना ही पड़ता है.

हरिकथाके श्रवण–कीर्तनमें दो सावधानियोंकी अतिशय आवश्यकता है. प्रथम तो यह कि इस हरिकथाको, स्पर्धा–ईर्ष्या–द्वेषकी हमारी तुच्छ मनोवृत्तियोंको सन्तुष्ट करनेका माध्यम न बनाया जाये. दूसरे हरिकथाको उदरपूर्ति यश:कीर्ति

अथवा चन्दा एकत्रित करनेके लोभवश न किया जाये. अन्यथा यह हरिकथा भक्तिमार्गीय उत्कृष्ट निरोध सिद्ध करनेमें विफल हो जाती है-"अमत्सरैः अलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः".

गुण-स्वरूप-उभयकृत-निरोधः

अवतारकालमें तो स्वेच्छया स्वरूपका प्राकट्य होता है. अनवतारकालमें स्वरूपके प्रकट न होने के कारण स्वरूपकृत निरोध सम्भव है कि नहीं? यह प्रश्न विचारणीय हैं.

तामसफलप्रकरण (१०।२६।१३) में इस प्रश्नका खुलासा इस शब्दोंमे दिया गया है-"ज्ञानभक्त्योस्तु आविर्भावार्थमुपयोगः आविर्भावश्चेदन्यथासिद्धः तदा न ज्ञानभक्त्योरुपयोगः. अत्रतु भगवान् स्वतएव आविर्भूतः, मुक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन. ईश्वरेच्छाया अनियम्यत्वात्. अतः आविर्भावः स्वेच्छया भक्त्या ज्ञानेन वा. भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः अवतारदशायां तु न तयोः प्रयोजकत्वम्. वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभमिति न कूपनदीनामनुपयोगः शङ्कनीयः" अर्थात् भगवदार्विभावकेलिए ज्ञान या भक्ति की आवश्यकता है. अवतारकालमें तो भगवान् स्वेच्छया स्वतएव सभीके समक्ष प्रकट हो जाते हैं. अतः उस समय ज्ञान-भक्ति अनावश्यक हो जाते हैं. एतावता अनवतारकालमें उन्हें अनुपयोगी नहीं मान लेना चाहिये.

सर्वनिर्णय-निबन्ध (का. २२८-२२९) में भगवान्के भक्तिमार्गीय आविर्भावकी प्रक्रिया दिखलायी गयी है:१.साकारब्रह्मवादके सिद्धान्तके अनुसार वस्तुमात्रके ब्रह्मात्मक होनेसे भगवन्मूर्तिके भगवदात्मक होनेमें किसी प्रकारके सन्देहकी आवश्यकता नहीं है. २.भक्तिका बीज भगवदनुग्रह ही होता है. अतः भक्तके हृदयमें किसी विशेष भगवन्मूर्तिके प्रति लगाव पैदा होता हो तो उसका बीज, उस मूर्तिरूपद्वारा भक्तोद्धारके, भगवान्के सङ्कल्पमें निहित होता है. ३.भक्तके भक्तिमार्गीय भावनामय सङ्कल्पके कारण भी भक्तके सेव्य-स्वरूपको "भगवान्के एक विशेष-व्यक्तिगत अवतार" के रूपमें मान्य करना चाहिये.

ब्रह्म व्यापक भी है और साकार भी. अतएव भगवन्मूर्तिको मायिक अथवा चित्तको एकाग्र बननेका एक उपकरण माननेकी रीति वाल्लभ सिद्धान्तसे विपरीत है. "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजाम्यहम्" (गीता) वचनके अनुसार मूर्तिमें साक्षाद् व्रजाधिपकी सच्चे हृदयसे भावना करनेपर सचमुच ही व्रजाधिपका उस

रूपमें प्राकट्य होता है.

भगवान्‌के इस कृपामय सङ्कल्प और भक्त के भावनामय सङ्कल्पके बलसे प्रकट हरिमूर्तिका ध्यान अपने हृदयमें, भक्तको अन्य सभी रूपोंको भूलाकर, सदा-निरन्तर बनाये रखना चाहिये. यह भगवान्‌के स्वरूपमें अन्त:करणका निरोध है इसी तरह इसी स्वरूपके नेत्रोंसे दर्शन तथा स्पर्शेन्द्रियसे स्पर्शनकेलिए आतुरता होनी चाहिये. हाथोंको इस स्वरूपकी सेवाकेलिए उद्यत रखना चाहिये. पैरोंको इस स्वरूपके दर्शनार्थ या भजनार्थ दोड़नेको उद्यत रखना चाहिये. कानोंसे भगवद्‌गुणगान सुनते समय, वे गुण, इसी भगवत्स्वरूपके गुण हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये. वाणीसे कीर्तन, इस स्वरूपके रूपसौदर्यका गुणमाधुर्यका और लीलालावण्यका करना चाहिये.

असमर्पित अन्न, वस्त्र, पुष्प, गन्ध आदिका त्याग पहले ही सिद्धान्तरहस्यमें-असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्" द्वारा समझा दिया गया है. अत: पुनरुक्ति अनावश्यक है.

यहां यह अवघेय है कि इन्द्रियां तीन तरह की होती हैं:१.जिनका साक्षात् भगवद्विनियोग शक्य हो. यथा नेत्र, त्वचा, कर्ण, वाणी, हस्त, चरण और अन्त:करण २.कुछ इन्द्रियोंका विषय भगवत्स्वरूपको साक्षात् नहीं बनाया जा सकता है. जैसे रसना और नासिका. अत: इन्हें भगवत्प्रसादरूप अन्न तथा गन्ध के ग्रहणके व्रतमें दीक्षित करना चाहिये. ३.पूर्वोक्त दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके व्यापर ग्रहणात्मक होते है विसर्जनात्मक नहीं. अत: उनका विषय साक्षात् भगवत्स्वरूप अथवा या स्वरूपसम्बन्धी प्रसादी अन्न-गन्धको बनाया जा सकता है, पर पायु और उपस्थ इन्द्रियोंका व्यापार ग्रहणात्मक न होकर विसर्जनात्मक होता है. अत: इनका विनियोग कथमपि साक्षात् भगवत्स्वरूप या तत्सम्बन्धी पदार्थोके ग्रहणमें शक्य नहीं है. फिरभी पायुसे मलांशत्यागके द्वारा शुद्ध देहको भगवत्सेवोपयोगी बनाया जा सकता है. इसी तरह कृष्णसेवामें सहयोगी सन्ततीके जन्मकेलिए उपस्थका भी उपयोग सम्भव है-"पुत्रे कृष्णप्रिये रति:"

इस तरह जिस इन्द्रियका, साक्षात् अथवा परम्परया भी भगवतस्वरूपमें विनियोग अथवा भगवत्कार्यार्थ उपयोग दिखलायी न देता हो, उसका निश्चयेन अच्छी तरह निग्रह करना चाहिये. इस नियमके पालनसे अनवतारकालमें भी गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोध शक्य बन जाता है.

भक्तको भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा केद्वारा प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति

सिद्ध हो जाती है.

निरोधकी सिद्धि साधनावस्थाकी अन्तिम अवधि है. कोई भी साधन षोडशग्रन्थमें वर्णित अष्टाक्षरपञ्चाक्षरमन्त्र (या अन्यत्र वर्णित मन्त्र–''हा हा कृष्ण मुखारविन्दविरहाग्ने'' भी) उभयकृत निराधसे अर्थात् कृष्ण–सेवाकथामय जीवनसे परतर–उत्कृष्ट साधन नहीं हैं. न इस षोडशग्रन्थमें वर्णित यमुनाष्टक या कृष्णाश्रय जैसे स्तव (या अन्यत्र भी वर्णित सर्वोत्तम आदि स्तोत्र भी) इस निरोधसे परतर–उत्कृष्ट साधन हैं. भाष्य, निबन्ध आदि ग्रन्थोंमें वर्णित अनेकविध ब्रह्मविद्यायें या सर्वनिर्णय आदि ग्रन्थोमें प्रशंसित तीर्थाटन भी इस गुण–स्वरूप–उभयकृत निरोधसे परतर साधन नहीं हैं.

इस निरोधसे परतर यदि कुछ है तो वह है आगे सेवाफलमें वर्णित होनेवाला अलौकिक सामर्थ्य रूप फल, जो इस निरोधका प्रयोजन है. परन्तु उसे तो 'फलनिरोध' ही पुन: कहा जाता है.

निरोधलक्षण ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण, वि. सं. १९७३ में प्रकाशित संस्करणका ओफसेट् प्रोसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. इसमें दिये परिशिष्टोंको हमने यथोचित क्रममें पुनर्योजित किया है. पूर्वसंस्करणके प्रकाशक थे गोस्वामीश्री १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पोरबन्दर) सम्पादक थे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सांकलिया इन सभी महानुभावोंका हम हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

निरोधलक्षणम्।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्।।१।।
गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति।।२।।
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्।।३।।
महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि।।४।।
महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्।।५।।
गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कतोन्यतः।।६।।
क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः।।७।।
सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्।।८।।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः।।९।।

---

१. चेति पाठः । २. चेति पाठः ३. सदानन्दमयस्यापीति पाठः । ४. स्वत इति पाठः ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम्।।१०।।
हरिणां ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्।।११।।
संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्।।१२।।
गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्।।१३।।
तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति।।१४।।
भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्।।१५।।
एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो हरिवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः।।१६।।
हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्वेष्टं* तथा कृतिगती सदा।।१७।।
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभावं२ तनौ नयेत्।।१८।।
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः।।१९।।
नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्।।२०।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितं निरोधलक्षणम्
समाप्तम् ।

---

१. तमिति पाठः । २. भूम्नि द्वादश योजयेदिति पाठः । ३. हरेः सुखस्पर्णादिति पाठः । ४. उत्कर्षमिति पाठः । ५. गुणवर्णने इति पाठः । ६. स्वेष्ठमिति पाठः । ७. वायोरिति पाठः । ८. शेषभागमिति पाठः ।

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

निरोधलक्षणम्।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिसमेतम्।

श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यामन्येषु च स्वग्रन्थेषु निरोधस्य निगद्यमानत्वात् तमाचक्षाणाः तदवश्यंभावसूचकं मनोरथस्वरूपमाहुः.

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्।।१।।

गोपिकानां त्वित्यन्तेन सर्वोत्कृष्टता स्वेष्टतमता च सूचितेति ज्ञेयम्. **स्या**दिति प्रार्थनायां लिङ्. **क्वचिदि**ति दुर्लभत्वम्. तथा च बहिराविर्भूतो भगवान् मातृचरणादीनां विरहानुभवजननार्थं यदा मथुरां गतस्तदा यद्विरहात्मकं दुःखं समजनि तद्भवेदित्यर्थः।।१।।

व्रिप्रयोगदशायां तादृशरसिकानुभवसाक्षिकान्तरसुखविषयकं मनोरथमाहुः.

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति।।२।।

त्विति पूर्ववदेव. यद्यपि नास्त्यत्र संशयस्तथापीष्टतमस्यार्थस्य सिद्धौ सन्देहास्पदताया लोकेऽपि दुर्निवारत्वात् किमुत सर्वसाधनाप्राप्यस्याखिलप्रमाणागोचरस्येति विभावनीयम्. ननु विहाय सर्वप्रसिद्धं संयोगसुखं कथमान्तराभिलाष इति चेत्. न. आन्तरस्य महाफलत्वादस्यामवस्थायामस्यैवोचितत्वादुत्कृष्टसंयोगसुखस्य च विजातीयवपुः साध्यत्वादितिदिक्।।२।।

अथ ‘‘सर्वेन्द्रियसुखास्वादो यत्रास्तीत्यभिमन्यते. तत्प्राप्तीच्छां ससङ्कल्पामुत्कण्ठांकवयो विदु’’ रितिलक्षणलक्षितोत्कलिकाजनकोत्सव विषयकमाहुः.

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्।।३।।

यदा भगवदुक्तं वाचिकमादायोद्धवः समागतस्तदा **जातो** यश्च वृन्दावने

रासक्रीडायां भगवदन्तर्धानान्तरमाविर्भूते सति जातो यो वा **गोकुले** जात इत्यर्थः. सर्वेषामपि प्रत्येकं विजातीयोत्कलिकाजनकत्वेन स्पृहणीयत्वात् सर्वविषयक स इति ध्येयम्।।३।।

अवान्तरभेदविशिष्टान्तरविषयकमाहुः।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि।।४।।

"अस्मिन्मार्गे स्वामिन्य एव गुरव" इति श्रीप्रभुचरणोक्तिरनुसन्धेया. तथा च महत्पदवाच्यास्ता एवेति तादृशगुरूणामनुकम्पयेत्याशयः. **सुखायेति.** सुखजनकः स्यादित्यर्थः. सुखसमूहरूपो भगवान् यद्यल्लीलाविशिष्टः कीर्त्यते तत्तल्लीलासहितो हृद्याविर्भूतः सन्नन्तरानन्दमनुभावयतीत्याशयः।।४।।

इदानीं विजातीयकीर्तनविषयकं तमाहुः।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्।।५।।

स्वामिनीनां कृपया हृदि स्फुरितस्य भगवतो यत्कीर्तन तदेव सर्वदा मनसि सुखं स्यात्, न तु लौकिकानां विहितकीर्तनोपदेष्टृणां कृपयेत्यर्थः. एषां मर्यादास्थत्वेनोत्कृष्टपुष्टावप्रवेशात्. तत्कृपास्फुरितकीर्तनस्य विहितकीर्तनस्य च तारतम्येन सुखजनकत्वे दृष्टान्तमाहुः **स्निग्**धेति. **रूक्ष**पदेन रूक्षभोजनम्. तथा च स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्येन सुखजनकत्वं यथा तथा तत्कीर्तनयोरपीतिभावः. एवञ्च महत्कृपया स्फुरितस्यैव कीर्तनं मे हृदि सुखजनकं भवत्वित्थं मनोरथ इति ध्येयम्।।५।।

ननु मर्यादामार्गीयविहितकीर्तनेपि अश्रुपुलकादीनां सत्वात् कथमत्रैवाग्रह इत्याशङ्काभासस्य समाधानमाहुः।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कतोन्यतः।।६।।

गोविन्दस्य गोगोकुलपतेरनन्यगोकुलस्वामिन इति यावत्. **गुणगाने** क्रियमाणे **यथा** आनन्दो भवति **तथा** विरक्तानां ब्रह्मभावापन्नानां **शुकादीना**मपि **आत्मनि न** भवति, किमुतान्यत्रेत्यर्थः।।६।।

एवं निरोधसाधनीभूतभावविषयकं निरोधावश्यंभावसूचकं मनोरथमुक्त्वेदानीं तादृशमनोरथविषयीभूते दुःखे जायमाने कदाचित् कृपया आन्तरं सुखमपि प्रयच्छति तदाहुः।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः।।७।।

भवेदिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्राप्यन्वेति. **यदा** कृपालुर्भवेत् **तदा** विरहदुःखानुभवितृहृदयस्थितं सदानन्दं भगवत्स्वरूपं **सर्वं** सर्वांशेन मायोद्घाटनेन अयोगोलकेवह्निवत् किञ्चित्कालं हृदय एव बहिराविर्भवेदित्यर्थः।।७।।

ननु "शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ती" इत्यादिमर्यादामार्गीयश्रवणादिभिरप्यानन्दो भगवदाविर्भावश्च भवेतामेव तत्कोयमाग्रहो दुःखानुभव इत्याशङ्कययाहुः.

सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्।।८।।

क्लेश विना **कृपानन्दो** नेत्याशयः. तर्हि गुणगानस्य किं फलमत आहुः **हृद्गत** इति. स्वगुणश्रवणेन कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्देनाप्लुतानो करोतीत्यर्थः. यथा बाह्यरमणे रासक्रीडायाम् विरहानुभवानन्तरं "जयति तेधिकं जन्मने"त्यादिना कृते गुणगाने कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्दं प्रायच्छत्, तथात्राप्यान्तररमणे सङ्कल्पप्रतिभातो भगवान् भजनानन्दस्य कञ्चन लेशं ददातीत्याशयः. "यद्यपि गतिस्मितप्रेक्षणे"त्यत्र गुणगानं नोक्तमान्तररमणे, तथापि बाह्यरमणानन्तरमन्तर्धाने विनापि गुणगानं आन्तरमास्ताम्, परन्तु साधनदशायामेतच्छरीरावच्छिन्नात्मनीयमेव सरणिरिति ध्येयम्. ननु विकलत्वास्वास्थ्यनाशकान्तररमणसम्पादनं भगवतो नोचितमिति चेत्, न. विप्रयोगस्यैवोद्बोधकमिदमान्तरमित्यधिकतरा स्वास्थ्यविकलत्वयोर्जनकमेव. तथा चोक्तं श्रीमद्व्रजरत्नपृष्टेन श्रीगोपीजनवल्लभेन "यथाधनो लब्धधने प्रणष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेदे"ति. तथा च किञ्चित्कालिकोऽयमाविर्भावो निर्धनस्याल्पकालिकधनलाभ इव भक्तस्य सङ्कल्पप्रतिभाते भगवत्स्वरूपे संयोगरसस्वादुलाभः. ततस्तदनवाप्तेरधिकतममस्वास्थ्यं विकलत्वं च भवतीति ध्येयम्।।८।।

एवं कृपोद्रेकजनकगुणगानमावश्यकमित्याहुः।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।

सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः।।९।।

निरुद्धैः पुष्टिमार्गीयैः **सदानन्दपरैः** श्रीकृष्णमात्रनिष्ठान्तःकरणैः एवंकृतौ स्वतोऽनभिलषिताप **सच्चिदानन्दता** स्फूरतीत्यर्थः. तथा च गुणगानं तु कृपोद्रेकजननार्थमेवेयं तु **स्वत** एव भवतीति भावः।।९।।

नन्वीदृशालौकिकप्रकारे किं प्रमाणमित्याशङ्क्यय स्वानुभवमेव प्रमाणमाहुः।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम्।।१०।।

निरुद्धः पुष्टिमार्गीयोऽहं **रोधेन** भजनानन्दातिरिक्तयावत्फलेभ्यो निवृत्या **निरोधपदवीं** निरोधाधिकरणतां प्राप्तः सन् **निरुद्धानां** पुष्टिमार्गीयाणां **रोधाय** रोधसिद्ध्यैयदधिकरणतामहं प्राप्तस्तं **निरोधं** कथयामीत्यर्थः. **ते** इति पाठे कमपि वक्ष्यमाणशङ्कावन्तमभिमुखीकृत्य ते तुभ्यं कथयामीत्यन्वयः.

ननु निरोधस्य भगवताग्रे सम्पादयिष्यमाणत्वान्निरुद्धानामिति वचः कथं सङ्गच्छत इति चेत्, न. भगवतो विषयाव्यभिचारिण्यामेवंविधस्व रूपानन्ददित्सायां सम्प्रदानत्वेन विषयीभूते पुष्टिजीवे सिद्धवत्कारेण निरुद्धपदप्रयोगे न काचिदप्यनुपपत्तिरिति ध्येयम्. ननु कोयं रोधः, को वा निरोध इति चेत्, उच्यते. लोकवेदसमाधिभाषा प्रसिद्धपशुपुत्रादिपुरुषोत्तमसायुज्यान्तयावत्फलेभ्यो निवृत्ती रोधः, रोधपूर्विकात्मोपाधिकप्रियत्वानिबन्धना भगवन्मात्रोपाधिकप्रियत्वनिबन्धना भगवत्परता निरोधः. रोधे भजनानन्दातिरिक्तयावत्फलनिरपेक्षता, निरोधे तु स्वात्मनोपि निरपेक्षता, यतो भगवान् स्वार्थं न प्रियः, किन्तु स्वात्मापि भगवदर्थमेव प्रियो, भगवानपि भगवत्वेनैवेत्ययमेव नितरां रोधो यत्स्वात्मनोपि निवृत्तिः. तथा च रोधनिरोधयोरयं भेदः. इत्थं च ‘‘न वा रे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवती’’तिश्रुतेः सर्वत्रात्मोपाधिकमेव प्रियत्वम्, तन्निबन्धनैव च प्रवृत्तिः, अत्र तु स्वात्मनो भगवतश्च प्रियत्वे भगवानेवोपाधिरिति भगवन्मात्रोपाधिनिबन्धनैव भगवद्विषयिणी प्रवृत्तिर्भजनानन्ददित्साविषयीभूते जीवे पूर्वं रोधं सम्पाद्य भगवता निरोधः सम्पाद्यत इति भावः. ननु निरोधो भगवतः क्रीडा, तत्कथमिदं लक्षणमिति चेत्, न. रोधनिरोधयोः सम्पादनमपि भगवतो विशिष्टक्रीडायामेव निविशते, न त्वतिरिच्यत इति दिक्. तर्हि रोधस्य भगवदेकसम्पाद्यत्वे रोधसिद्ध्यर्थं श्रीमदाचार्यकर्तृकं निरोधवर्णनं कुत्रोपयुज्यत इति चेत्, न. ‘‘नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्’’ इत्युक्ते‘र्निरोधपदवीं गत’ इत्युक्तेश्चानवरतमन्तःकरणे श्रीमद्गोपीजनवल्लभो भगवान्

रममाणस्थिष्ठति. तथा चान्तःकरणस्थो भगवानेवाचार्याणामाननसरोजेन पुष्टिजीवानामुक्तलक्षणकरोधसिद्ध्यर्थं निरोधं वर्णयामीति वदतीति ध्येयम्. उक्तश्चेत्थंभूतोर्थः श्रीमदाचार्यचरणैर्दशमस्कन्धस्य प्रथमाध्याय‘‘स्थैतन्निशम्य भृगुनन्दन साधुवादम्. वैयासकिः सभगवानथ विष्णुरातम्’’ इत्यस्य श्लोकस्य विवरणे ‘‘भगवता सहितः तदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छती’’त्यनेन सभगवानितिपदव्याख्यानेन ‘‘वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भुतं चकार हे’’ति सर्वोत्तमे श्रीमत्प्रभुचरणोक्तेर्भगवन्मुखारविन्दमेव श्रीमदाचार्या इति तदीयैरविरतमाकलनीयमिति दिक्. इत्थं च भगवानेव निरोधवर्णनेन निरोधस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन ज्ञानमुत्पाद्योक्तफलेभ्यो निवर्तयतीति भगवत्सम्पाद्यत्वं रोधस्येति सर्वं सुस्थम्. वस्तुतस्तु यदत्र साधनं यच्च फलं तत्सर्वं वरणैकलभ्यत्वाद्भगवदेकसाध्यमेवेति किमेभिरसत्तर्कैरिति भाग्यवद्भिर्विभावनीयम्. निरुद्धानां त्विति तुशब्दादन्यार्थं न वर्णयामीति भावः।।१०।।

ननु कुतः सर्वार्थं न निरूप्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्।।११।।

सर्वदुःखहर्त्रापि येऽन्यविषयेभ्यो विमोच्य स्वस्वरूपलिप्सवो न कृतास्तेषां मन्दभाग्यानामर्थे कथं निरूपणीयमिति भावः. यद्यपि तेषां मार्गान्तरेण यत्किञ्चिदपि फलं जायताम्, तथाप्येतदतिरिक्तफलेषु सामान्यबुद्धिरेव श्रीमदाचार्यचरणानामत एव भवसागरे मग्ना इत्यूचिरेतराम्. श्रीमद्भागवतेपि ‘‘स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन’’ इति।।११।।

भावनासाधनीभूतां साधनतापन्ननिरोधपदवाच्यां भावनामाहुः।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्।।१२।।

रूपरसादितन्मात्रासु पर्यवसन्नत्वाद् दुष्टानां चक्षूरसनादिज्ञानेन्द्रियाणां निषिद्धनानाक्रियाजनकानां कर्मेन्द्रियाणां तत्तद्दोषनिरसनपूर्वकं तत्तत्फलसिद्ध्यै सदानन्दस्य सर्वान् रूपादीन् पदार्थान् तत्तदिन्द्रिययोग्यान् योजयेदित्यर्थः. नन्वनवरतमन्तरङ्गभक्तैर्भज्यमानस्य भगवतस्तत्र तत्रोपयुक्ताः सर्वे पदार्थाः कथं योजयितुं शक्या इत्याशङ्कायामाहुः **भूम्न** इति. **ईशस्य** सर्वसमर्थस्य **भूम्नः** बहुत्वात् तथा च युगपदनेकेषु स्थलेषु मायोद्घाटनेनाविर्भवति भगवति सर्वमुपपद्यत

इति भावः. योजनप्रकारस्त्वग्रेवक्ष्यते।।१२।।

ननु **मनोमात्रयोजनेन निःप्रत्यूहं ब्रह्मरूपं रूपरसादिविषयवैराग्यजनकमविदितदुःखं** विहाय कथमेवंविधप्रकारे प्रवृत्तिर्जायेतेतिशङ्कानिरासाय ज्ञानमार्गे यत्परमफलं तदत्र गुणवर्णकस्य निबिडाच्छन्ननौकया गच्छतोऽनाशास्यमानशीतसदागतिस्पर्श इव मध्येमार्गमिदमवान्तरं फलमित्याहुः.

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्।।१३।।

संसारस्य विरहो लौकिकविषयवियोगजन्यं दुःखं **क्लेशो** रोगादिजन्यो द्वावपि न भवेतामित्यर्थः. न हि क्षारं कूपपानीयं पिबतः पामरस्यापि पानकपानसम्पत्तौ तादृशकूपपानीयविरहो दृष्टः श्रुतो वा. एवं प्रकृतेप्यवसानविरसान् नश्वररूपादीन् भुञ्जानस्य स्वरूपानन्दानुभवसम्पत्तौ न संसारविरह इति भावः. **हरिवदिति.** स्वरूपानन्दो यो भगवतानुभूयते स एवानेनेति भावः।।१३।।

ननु गुणमात्रनिष्ठया कुत एवं करोतीत्याशङ्कायामाहुः।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति।।१४।।

यदि गुणमात्रनिष्ठ्यैवं न कुर्यात्तदा क्रूरता मता. दयालुत्वं न स्यात्. तथा च निसर्गदयालु भगवत्स्वरूपं कथमन्यथा भवेदित्यन्यथा क्रूरतेत्यस्यार्थः. इत्थं च सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिरितियुक्तिरुक्तेति भावः. एवं ज्ञानमार्गोपास्येऽव्यक्ते मनोयोजनेन यत्फलं जायते तदत्र गुणमात्रे मनोयोजनेनेति ध्येयम्. **निःप्रत्यूह**मित्यत्राहुः बाधेति. देशकालादिसापेक्षसाधनसाध्यफले हि कालादिकृतप्रतिबन्धशङ्का स्यादयं तु भगवदनुग्रहातिरिक्तसर्वसाधनरहित इति न तच्छङ्केति भावः. **ब्रह्मे**त्यत्राहुः **तदिति.** तदध्यासोऽक्षरात्मता. यद्यपि नेयमिष्टा तथापि गुणगानेन संसारावेशनाशे सति स्वस्वरूपस्फूर्तिरनाशास्यमानापि निसर्गादेव जायते, यतो जीवस्य मूलमक्षरं ब्रह्मेति ध्येयम्. तथा चोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्या विवृतौ ब्रह्मबोधनमित्यस्य व्याख्यायां तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति।।१४।।

रूपेत्यत्राहुः.

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्।।१५।।

ज्ञानमार्गे ‘‘मात्रास्पर्शास्त्वि’’तिवाक्येन यत्नपूर्वकमनित्यत्वादिभावनेन बलान्निर्वेदः, अतोऽस्थिरश्च भवति, प्रकृते तु तन्मनस्कत्वादिसिद्ध्यानवरतमानन्दमात्रकरपादमुखोदरत्वादिभगवद्धर्मस्फूर्त्या सर्वत्र मनश्चक्षुरादीनां रागात् प्रवृत्तेः कदर्थ्येषु विषयेषु जायमानो विरागः स्थिर एव भवतीत्यर्थः. अविदितेत्यत्राहुः गुणैरिति. सर्वदुःखहर्तुर्यत्सुखं तस्य स्पर्शादीषत्सम्बन्धमात्रादित्यर्थः. तथा च सर्वांशेन तदनुभवस्य भगवतो विजातीयवपुःसम्पादनेन करिष्यमाणत्वादत्र स्पर्शमात्रमेवोक्तमिति ध्येयम्।।१५।।

उपसंहरन्ति.

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो हरिवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः।।१६।।

उत्कर्षो गुणेति पाठे ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने उत्कर्षोऽस्ति एवं ज्ञात्वेत्यन्वयः. अमत्सरैरिति. एतन्मार्गीयभगवद्भक्तेषु द्वेषरहितैस्तेषामनवरतमेतद्भावावेशेन (भगवद्भक्तशुभद्वेषरहितैरिति पाठः.) भावात्मकभगवदात्मकत्वात् स द्वेषो भगवत्पर्यवसायी भवतीत्याशयः. अलुब्धैरिति. स्वस्यैवंविधभगवदीयत्वख्यापनेनोदरदरीमपूरयद्भिरित्यर्थः।।१६।।

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमिन्द्रिययोजनप्रकारमाहुः.

हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्वेष्टं[1] तथा कृतिगती सदा।।१७।।
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभाव[2] तनौ नयेत्।।१८।।

१.स्पष्टमित्यपि पाठः., २.शेषभागमित्यपि पाठः

मुख्यं तु विजातीयवपुःसाध्यमिति तदसम्भवात् सङ्कल्पादपि दर्शनादि सर्वं भावयेदित्यर्थः. अत्र “क्षण्वतां फलम्” इत्येतद्व्याख्यायां “भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च. आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः. अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा. तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः. तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदे” इत्येतत्सर्वमनुसन्धेयम्. **स्पर्शनं स्पष्टमिति** पाठे अत्रैव लोको प्रकटमाधिदैविकमुत्तमं “कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्तते न चापर” इत्यनुसन्धेयम्. **पुत्र** इति. सङ्कल्पाज्जातत्वात् सङ्कल्पस्य पुत्रे कामे इत्यर्थः. अत एव ‘भगवानपी’तिश्लोकविवरणे “कामपितामहं मन उत्पादितवा”नित्यनेन कामपितामहत्वमुक्तं मनस इति ध्येयम्. नन्वत्र काम आपामरप्रसिद्धो ग्राह्योऽन्यो वेत्याशङ्कायामाहुः **कृष्ण** इति. अलौकिक इत्यर्थः. उक्तं “चात्मारामोऽप्यरीरम”दित्येतद्व्याख्यायां “क्रिया सर्वापि सैवात्रं परं कामो न विद्यत” इति श्रीमदाचार्यचरणैरिति ध्येयम्. **रतिरिति**. अलौकिकं तमुद्भाव्य स्पर्शविशेषो भावनीय इत्यर्थः. नन्विन्द्रियेषु पायोरपि सत्वात् तस्य का गतिरित्याशङ्कायामाहुः**पायो**रिति. मलांशत्यागमात्रैकप्रयोजनकस्योपरोधजदुःखनिवर्तकस्य सुखाजन कस्यास्य **शेषभावं** गौणत्वं प्रापयेदित्यर्थः. तथा चाकिञ्चित्करत्वाद्व्यर्थमेवेति भावः. वायुमिति पाठे अजामरण्यं नयतीतिवत् स्पष्ट एवान्वयः।।१७, १८।।

तर्हि स्त्रीपुमवयवविशेषयोः का गतिरित्याशङ्कायामाहुः.

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः।।१९।।

विनिग्रहस्तिरस्कारोऽवगणनेति यावत्. तथा च यथास्थ्यादीनि मलानि च तथानुपयोगात् पुमवयवविशेष इति तस्य निग्रह इति भावः. वेति विकल्पादेकस्यास्तूपयोग इति ध्येयम्।।१९।।

एवं निरोधमुक्त्वा स्वानुपदिशन्ति.

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्।।२०।।

मन्त्रो मननीयो नितरां गोपनीयश्च. स्तवो भगवत्प्रसादहेतुः. विद्या काम्यमानयावदर्थसाधनम्. तीर्थं प्रतिबन्धकीभूतदुरितनिचयनिरसनपूर्वकं तत्प्राप्तिसम्पादकभागधेयोद्बोधकमित्यर्थः।।२०।।

इतिश्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणात्मजश्रीघनश्यामतनयश्रीगोपेशगोस्वामि विरचिता निरोधलक्षणविवृतिः समाप्ता।।

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

निरोधलक्षणम्

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम्।

देयासु प्रार्थितं मह्यमनुरूपफलद्वयम्।
व्यासेन च समासेन फलत्रययुता स्वयम्।।१।।

निरोधलक्षणमिति ग्रन्थनाम. निरोधस्य लक्षणं लक्ष्यत अनेन तादृशमिति करणव्युत्पत्तिरत्र. तथा च लक्षणनिरूपणेन निरोधज्ञापकमित्यर्थः. तत्र लक्षणं द्विविधम्, स्वरूपलक्षणं कार्यलक्षणं चेति. तत्र स्वरूपलक्षणं यथा ‘‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे’’ति कार्यलक्षणं यथा ‘जन्माद्यस्य यत’ इति. तत्र स्वरूपलक्षणं दशमस्कन्धे बहुधा निरूपितमिति कार्यलक्षणान्यत्रोच्यन्ते यच्चेत्यादिना.

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्।।१।।

नन्दादीनां चेत्यत्रादिपदेन उपनन्दादयः. चकारेण अन्तरङ्गगोपाः. तता च **यशोदाया नन्दस्य** उपनन्दादीनामन्तरङ्गगोपानां च यद्दुःखं येन पूर्वोक्तत्रयाणां दिवा चतुर्णां सुखं लीलानुभवरूपं निरोधलक्षणं भगवदासक्तिकार्यमित्यर्थः. गोपकृतगुणगानस्यासक्तिकार्यत्वमष्टादशाध्यायकारिकासु स्फुटम्. अन्येषु लक्षणेष्वन्यस्यानधिकारात् स्वपरत्वेनैव तानि निरूपयन्ति **गोपिकानां त्विति**. ‘‘निन्युर्दुःखेन वासरा’नित्यत्रोक्तं दुःखं च निरोधकार्यम्. इदं तु क्वचिन्मम स्यात्, अन्यस्य तु सर्वथा दुर्लभमेवेत्यर्थः अन्यव्यावृत्तये तुशब्दः. चकारपक्षे इदमपि दुःखं निरोधकार्यमिति समुच्चयः।।१।।

सुखरूपं निरोधलक्षणमाहुः **गोकुले** इति.

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजसवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति।।२।।

गोपिकानां चकारेण अन्तर्गृहगतानां यत्सुखं पूर्वदलानुभवरूपम्. सर्वव्रजवासिपदेन अन्तरङ्गदास्य उच्यन्ते. पुल्लिङ्गपदं परोक्षवादाय. तेषां च

यत्सुखमत्यन्तरङ्गलीलादर्शनरूपं समभूत् तदपि निरोधलक्षणम्. अन्यस्यायोग्यमतो भगवान् मे किं विधास्यतीत्याशंसेत्यर्थः. अत एव अष्टकान्ते विठ्ठलपदाभिधेये मय्येवेत्येवकार उक्तः।।२।।

आत्यन्तिकविरहानुभवरूपं मुख्यं लक्षणमाहुः **उद्धवागमनेति**.

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्।।३।।

उत्सव आत्यन्तिकविरहानुभवरूपः. एतस्य मुख्यफलत्वसिद्धान्तात् **सुमहानित्युक्तम्**. अयमुत्सवो गोपिकानां नन्दादीनां च भ्रमरगीतप्रसङ्गे अध्यायद्वयेनोक्त इति **वृन्दावने गोकुले वे**त्युक्तम्. अत्र अन्यस्यानधिकार इति **मे मनसि स्यादिति** उक्तम्. दुर्लभत्वख्यापनाय क्वचिदिति. एतेषु स्वाशंसाकथनेन पूर्वं 'यच्च' इत्यर्धेनोक्ते दुःखसुखे अन्येनापि भक्तेन मयि स्यादिति आशास्य इति सूचितम्. तथा च यशोदाय नन्दस्योपनन्दादीनामन्तरङ्गगोपानां च दुःखसुखानि निरोधलक्षणानि भक्तेन स्वपरत्वेनाशास्यानि. गोपिकानां दुःखसुखे, अन्तरङ्गगोपीनां अन्तर्गृहगतानामन्तरङ्गदासीनां सुखम्, सर्वेषामात्यन्तिकविरहानुभवश्च. इमानि निरोधलक्षणानि स्वरूपतो ज्ञेयानि, न तु स्वपरत्वेनाशास्यानि, तत्रानधिकारादित्युक्तम्. भगवान् कृपया सम्पादयेच्चेदस्तु, स्वयं नाशास्यानीत्यर्थः।।३।।

स्वपरत्वेन आशास्यस्य पूर्वोक्तस्यापि फलस्य दुर्लभत्वेन चिरकालसाध्यत्वात् तत्सिद्धिपर्यन्तं क्लेशाभावायावान्तरं निरोधफलमाहुः **महतामिति**.

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि।।४।।

महतामत्रत्यगुरूणां स्वामिनीनां कृपया भगवान् यावद्दययिष्यति पूर्वश्लोकार्धोक्तं फलं सम्पादयिष्यति तावत् कीर्त्यमान आनन्दसन्दोहो भगवान् सुखाय भवति. गुणगानजं सुखं निरोधस्यावान्तरफलमित्यर्थः।।४।।

मुख्यफलस्य स्वामिनीकृपासाद्ध्यत्वमुक्त्वा अवान्तरफलमप्यत्र तत्कृपासाध्यमेव ज्ञेयमित्याहुः **महता**मिति.

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्।।५।।

लौकिकानां लोके प्रसिद्धानां नारदशुकादीनां **कृपया** जातं कीर्तनम्, तथा स्वामिनीकृपया सञ्जातकीर्तनप्रकारकसुखदं नेत्यर्थः. तत्र हेतुं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्ति

---

१ श्रीविठ्ठलेश्वरप्रभुचरणप्रकटितस्वामिन्यष्टकोपन्यासोत्र.

स्निग्धेति. स्निग्धभोजनं रूक्षभोजनं च तद्वदित्यर्थः. स्वामिनीकृपया अन्तर्भगवत्प्राकट्यात् कीर्तनस्य स्निग्धभोजनतुल्यत्वम्. अन्यत्र तु मानस्या मूर्तेः कल्पितत्वेन वस्तुतः प्राकट्याभावात् कीर्तनस्य रूक्षभोजनतुल्यत्वम्. **महता**मित्यस्य **कीर्त्यमानेनाप्यन्वयः**. तत्कृतां कीर्तनं न त्वन्येनोपनिबद्धमित्यर्थः. मुख्यफलप्राप्तिपर्यन्तं गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम्।।५।।

तत्र कर्मणापि तावत्पर्यन्तं क्रममुक्तिप्रकारेण स्वर्गादिसुखावाप्तिसिद्धौ किमर्थं गुणगानाग्रह इत्याशङ्कययाहुः **गुणगाने** इति.

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः।।६।।

गोविन्दस्य गुणगाने यत्प्रकारिका **सुखावाप्ति**स्तत्प्रकारिका सुखावाप्तिः **शुकादीनां** सिद्धज्ञानानां तत्रापि **आत्मनि** आत्मविचारदशायामपि **न** जायते, तर्हि **अन्यतः** कर्मभ्यः कुतः स्यादित्यर्थः. अत एव 'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य' इत्यादि वाक्यानि।।६।।

तत्कृतकीर्तने विशेषमाहुः **क्लिश्यमाना**नितिद्वयेन।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः।।७।।
सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्।।८।।

सदानन्दं सद्रूप आनन्दो यस्मिन् तादृशं स्वरूपं **क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो** भवेत् तदा बहिर्निर्गतं भवति, स **कृपानन्दस्तु सुदुर्लभः**. कर्मणा ज्ञानेने वा न भवति, किन्तु क्लेशेनैव भवति, अतस्तथेत्यर्थः. सदानन्दस्य बहिर्निर्गमनं विवृण्वन्ति **हृद्गत** इति. तत्तद्धृदिस्थो भगवान् स्वगुणान् अन्योऽन्यं वर्णितान् श्रुत्वा पूर्णो भवति. इदं द्वात्रिंशाध्यायकारिकायां स्फुटम्. स्वयं **पूर्णः** सन् **जनान् प्लावयते,** स्वरूपानन्दे निमग्नान् करोति, तेषामन्तर्बहिः स्वरूपानन्दं प्रकटीकरोति. इदं सदानन्दस्य बहिर्निर्गमनमित्यर्थः।।७,८

स्पष्टीकर्तुमुपसंहरन्ति **तस्मा**दिति.

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः।।९।।

सर्वं कर्मज्ञानादिप्रयासं **परित्यज्य निरुद्धैर्भक्तैः** सह **सदानन्दपरैः** कर्तृभिः गुणा गेयाः. एतस्य फलस्य अवान्तरत्वं साधयन्ति **सच्चिदानन्द**तेति. **ततो** गुणगानात् **सच्चिदानन्दता** भवति, अलौकिकशरीरप्राप्त्या परमफले स्वरूपयोग्यता भवतीत्यर्थः. **स्वत** इति पाठे गुणगानस्वभावादेव भवतीत्यर्थः।।९।।

ननु यैः सह गुणा गेयास्ते निरुद्धाः कथं ज्ञेया इत्याशङ्क्य तदभिज्ञापकं कथयामीत्याहुः **अह**मिति.

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते।।१०।।

रोधेन निरोधपूर्वावस्थापन्नेन भावविशेषेण **अहं निरुद्धः** निरोधस्य **पदवीं** मार्गं पूर्वोक्तमुख्यफलपर्यन्तं **गतः** प्राप्तः. अतो गोपिकानां त्वित्यादिनोक्तफले इव अभिज्ञापककथने मम न प्रयोजनम्, किन्तु अन्यर्थं कथयामीत्याशयेन कञ्चित्सेवकमभिमुखीकृत्याहुः **ते** इति. तव निरुद्धानां सम्बन्धि यो रोधस्तदर्थं त्वयि तादृशभावसिद्ध्यर्थमित्यर्थः. **निरोधं वर्णयामि** अभिज्ञापककथनेन कथयामीत्यर्थः।।१०।।

विविच्य कथनाय व्यावर्त्यानामपि अभिज्ञापकमाहुः।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्।।११।।

सर्वदुःखहर्त्रापि ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना इति व्यावर्त्यानामभिज्ञापकमुक्तम्. निरुद्धानामभिज्ञापकमाहुः ये इति. अत्र गुणगानादौ इत्यर्थः. यथा सर्वज्ञत्वमलौकिकं तेजश्च ज्ञाने निदर्शनम्, एवं निदर्शनेन निरुद्धान् ज्ञात्वा तैः सह गुणगानं 'यच्च' इत्यर्धेनोक्तफलसिद्धिपर्यन्तं कर्तव्यम्. फलप्राप्त्यनन्तरं तु तत्स्वभावप्राप्तमेव सर्वं भविष्यतीति न तत्र कथनापेक्षेति भावः।।१३।।

ननु परमदयालुर्भगवान् कथं कांश्चिज्जीवान् मुञ्चति येन ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्याशङ्क्य धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धमेतदिति आहुः **गुणेष्विति**सार्धेन.

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्।।१२।।
तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।।

समाधानं तु निबन्धे "आत्मसृष्टेर्न वैषम्यम्" इत्यनेनोक्तमत्र ज्ञेयम्. येन संसारक्लेशो भगवद्विरहक्लेशश्च निवर्तते, हरेरिव सुखं च भवति, तादृशगुणावेशो

यदा भवति तदा भगवतो दयालुत्वा भवेत्. एतावत्फलपर्यन्तं प्राप्ता भक्तिमार्गीया एव भवन्तीति भक्तिमार्गीयेषु दयालुत्वं भवतीत्यर्थः. अन्यथा भक्तिमार्गीयत्वाभावे भगवतः क्रूरता तेषां मोचनम्, येन ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः. कर्ममार्गे पुनरावृत्तिकथनात् संसारे मज्जनम्. ज्ञानमार्गेपि 'ज्ञानिनामपि चेतांसी'ति वाक्यात् तथा. इदं निबन्धे द्वितीयप्रकरणान्ते व्यवस्थापितम्. **इदं सर्वं प्रमाणसिद्धमेवेति मतेत्युक्तम्**।।१२।।

ननु ज्ञानमार्गे मायेव अत्रापि कश्चिद्बाधेतेत्याशङ्क्याहुः।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति।।१३।।

अत्र बाधसम्भावनापि नास्तीत्यर्थः. तत्र हेतुः तदध्यासोपीति. माया हि संसारे अध्याससम्पादनेन मज्जयति, अत्र तु भगवदीयत्वेनैव अध्यासो भवतीत्यर्थः. गृहं सर्वात्मना त्याज्यमिति त्यागपक्षसमुच्चयाय अपिशब्दः।।१३।।

गुणावेशेन उभयक्लेशाभावे हेतुमाहुः।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्।।१४।।

गीयमाना ये भगवद्धर्मास्तत्सामर्थ्यात् विषयवैराग्यं भवति, तेन संसारक्लेशाभावः. गुणैः हरिसुखस्पर्शाद्विरहक्लेशाभाव इत्यर्थः।।१४।।

मार्गान्तरेभ्य उत्कर्षं स्फुटं कर्तुमुपसंहरन्ति एवमिति.

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदागुणाः।।१५।।

ननु 'पराञ्चि खा'नीतिवाक्यादिन्द्रियाणामन्यपरत्वस्य साहजिकत्वात् तैः सर्वदा विषयभोगे गुणगानं कथं भविष्यतीत्याशङ्क्यय तदुपायमाहुः.

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत।।१६।।

एतेषां **हिताय** भगवत्परतासिद्धये कृष्णस्येश**स्य वस्तूनि** एतैः **सह योजयेत्.** प्रपञ्चे ब्रह्मभावनां कुर्यादितिसिद्धान्तमुक्तावल्युक्तोर्थोनुसन्धातव्यः. **भूम्ने**ति चतुर्थी भूमा सर्वात्मभावस्तदर्थमित्यर्थः. भगवदीयैरेव वस्तुभिः सर्वव्यवहारसिद्धौ सर्वोप्यात्मने भावो भगवति सिद्धो भवतीत्यर्थः।।१६।।

भगवदीयवस्तूनामिन्द्रियैः सह योजनेन सिद्धं भूमानं विवृण्वन्ति **हरिमूर्तिरि**ति.

हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्वेष्टं तथा कृतिगती सदा।।१७।।
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्।।१८।।
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः।।१९।।
नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्।।२०।।

आद्यचरणेन मनसो भाव उक्तः. इन्द्रियाणामाहुः **सङ्कल्पादपी**ति. दर्शनस्पर्शनकृतिगतिश्रवणकीर्तनानि चक्षुस्त्वक्पाणिपादश्रोत्रवाक्कार्याणि **सङ्कल्पादपि** तत्र भगवत्येव सम्पादनीयानि. भगवद्विषयकाण्येव दर्शनादीनि सङ्कल्पनीयानि, न तु विषयविषयकाणीत्यर्थः. मुख्यतस्तु भगवद्विषयकाणि तानि कर्तव्यानि. तदसम्भवे सङ्कल्पमात्रमपि कर्तव्यमिति सङ्कल्पस्य ततो गौणत्वसूचनाय अपिशब्दः. भगवद्धर्मसामर्थ्यसिद्धवैराग्यस्वरूपं तेन साध्यं फलं च वदन्तः पायोर्विनियोगमाहुः **पुत्रे**ति. **कृष्णप्रिये पुत्रे** रतिः कर्त्री, पायोर्मलत्याजकेन्द्रियाद्धेतोर्मलांशस्य प्राकृतभावस्य त्यागेन **शेषभागं** अलौकिकत्वं तनौ नयेत् प्रापयेदित्यन्वयः. मलत्यागस्य पायुकार्यत्वात् पायुग्रहणम्. अत एवा''सिसृक्षोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानत'' इति देहत्यागस्य अपानकार्यत्वमुक्तम्. अपानं इन्द्रियमिति उक्तेरपानं पायुश्चेत्येकमेव. **कृष्णप्रिय** इति. भगवदीयेषु रागो अन्यत्र विराग इति लक्षणं वैराग्यस्वरूपमुक्तम्. कृष्णः प्रियो यस्य तादृशे भगवदीये. तथा च भगवदीयत्वेन राग इत्यर्थः. पुपिदमुपलक्षणम्. भार्यादिष्वप्येवम्. ''नापुत्रस्य लोकोस्ती''त्यादिवाक्यैः पुत्रे रागस्य प्रमाणसिद्धत्वेन कर्तव्यत्वशङ्कया पुत्रपदम्. अन्यत्र आत्मन एव निरुपधिस्नेहविषयत्वात् पुत्रस्य च ''आत्मा वै पुत्रनामासी''त्यादिवाक्यैरात्मत्वकथनात् तत्र राग उक्तः. अत्र तु भगवत एव निरुपधिस्नेहविषयत्वाद्भगवदीये एव रागोन्यत्र विराग इति भावः. मलं द्विविधम्, प्रतिजन्मनि जायमानं देहरूपमेकम्, प्रत्यहं जायमानमपरम्, उभयविधमलनिवृत्तेः पायुकार्यत्वादेककथने द्वितीयमप्युक्तं जातमिति ज्ञेयम्. घ्राणरसनोपस्थानां विनियोगमाहुः **यस्य** वेति. अन्येषां भगवति विनियोगसङ्कल्पो विषयभोगसङ्कल्पनिग्रहश्चोक्तः. एतेषामधुना भगवति विनियोगसङ्कल्पासम्भवात्

निग्रहमात्रं कर्तव्यम्. एतैर्विषयभोगो न सङ्कल्पनीय इत्यर्थः. वाशब्दोऽनादरे. **यस्य** एव इन्द्रियस्य कार्यं भगवत्सम्बन्धि यदा यस्मिन् काले **स्पष्टं न दृश्यते तदा** तस्मिन् काले तस्येन्द्रियस्य **विनिग्रहः कर्तव्यः**. तदिन्द्रियं विषयानन्तरे न प्रवर्तनीयम्, पतिव्रतावत्तूष्णींस्थेयमित्यर्थः।।१७, १८, १९, २०।।

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः।
वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात्।।१।।

इतिश्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृता निरोधलक्षणविवृत्तिः सम्पूर्णा।।

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

निरोदलक्षणम्।

श्रीहरिरायकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम्।

नमामि श्रीमदाचार्याननल्पकरुणायुतान्।निरोधफलदानाय प्रभुणा प्रकटीकृतान्।।१।।
यदीयचरणाम्भोजं वरणं मूर्तिमत्प्रभोः।तत्कृपातः करिष्येहं निरोधविवृतिं मुदा।।२।।
तदाविर्भावितश्रीमत्प्रभुसेवारसात्मकः।अस्मत्प्रभुः कृपयतु प्रियः श्रीविठ्ठलेश्वरः।।३।।
वन्दे पितृपदाम्भोजं श्रीमदाचार्यसंश्रितः।यतोऽहमभवं सर्वसाधनाभाववानपि।।४।।

अथोपोद्घाततया इदं विचार्यते, को निरोध? किञ्च तस्य कारणम्? कथं वा तस्य फलत्वमिति. तत्रोच्यते. प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिर्निरोध इति. न च आसक्तिमात्रं स इति वाच्यम्. विषयासक्तौ व्यभिचारात्. न च तत्र प्रपञ्चविस्मृतिः, किन्तु विशेषतः तदभिनिवेश एव. न चासक्तिविषयातिरिक्तप्रपञ्चविस्मृतेरुभयसाधारण्येन अतिव्याप्तिरिति वाच्यम्. प्रपञ्चशब्दस्य तत्सामान्याभिप्रायत्वात्. न च लौकिकासक्तिविषयो न प्रपञ्चः इति वाच्यम्, तद्रूपस्य तादृशशक्त्यैवोत्पादकत्वात्. न च प्रपञ्चमात्रास्मरण आसक्तेर्निर्विषयत्वापात इति वाच्यम्. प्रपञ्चातीतस्य तद्विषयत्वात्. न च तद्विषयस्य तदतीतत्वे प्रापञ्चिकजीवासक्तिविषयत्वं न स्यादिति वाच्यम्. योगजधर्मप्रत्यासत्या अतीन्द्रियार्थस्य इव भक्त्या प्रपञ्चातीतस्य विषयत्वोपपत्तेः. किञ्च, श्रुतानुरागस्थले लोकेऽपि अतीन्द्रियार्थस्य तद्विषयत्वमस्ति एव. अत एव कल्पतरुकामधेन्वादिमाहात्म्यश्रवणेन दृश्यते अखिलानां लोकानामभिलाषः. वस्तुतस्तु प्रपञ्चातीतस्य अपि ऐन्द्रियकत्वमेव, चक्षुरवेद्यत्वेऽपि श्रवणवेद्यत्वात्. "कश्चिद् धीर" इति श्रुते"दिंव्यं ददामि ते चक्षुः" "तस्मिन् दृष्टे परावरे" "पश्यन्ति ते मे" "त एव पश्यन्ति" इत्यादि स्मृतिभ्यश्च विशिष्टचक्षुर्वेद्यत्वाच्च. ननु लक्षणे प्रपञ्चत्याग एव कुतो न निरोधविशेषणतयोच्यत इति चेत्. न. तस्य ज्ञानमार्गीयमोक्षसाधनत्वेन अत्र अनुपयोगात्. अत्र तु भजनान्यथानुपपत्या ममतापरावर्तनस्यैव त्यागपदार्थत्वेन तस्य तद्विस्मृतिमात्रपर्यवसितत्वात्. अत एव "त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य" इति वृत्रवचः. उक्तं च प्रभुभिः श्रीभागवतार्थतत्वदीपे "ब्रह्मभावात् तु भक्तानां गृहमेव विशिष्यत" इति. तस्मात् तद्विस्मृतिमात्रमेवात्र मृग्यमिति. अत एव भरताचार्योप्याह तल्लक्षणं "या तु व्यसनसम्प्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यत" इति. व्यसनं च प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका आसक्तिरेव. अत एव क्षणमपि तत्र तेन विना स्थातुमशक्तिः. अंशतोप्यन्यस्मरणे क्षणं तेन निर्वाहात्. अत

---

१ चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः.२ श्रुतानुरागस्येति पाठः

एव प्रोचुः परमदुर्लभत्वमेव वदन्तः श्रीमदाचार्याः भक्तिवर्धिन्यां ‘‘यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि’’ इति. विशेषेण असनं क्षेपणं सर्वस्य यस्मादितिव्युत्पत्यापि तस्य भावस्य प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वमेव सिध्यति.

स च निरोधो द्विविधः. भागवतोऽन्यश्च. अत एवोक्तमाचार्यैः ‘‘निरोधो यदि भक्तानां स्वस्मिन् स्वस्य च तेषु हि, तदोभयसुसम्बन्धात् दृढो भवति नान्यथे’’ति. तत्र आद्यो भगवतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभक्तविषयकासक्तिरिति. ‘‘निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभि’’रितिवचनात्. अस्येति षष्ठ्या भेदेन निर्देशात्. ‘‘निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरे’’रित्याचार्यचरणैर्विवृतत्वाच्च लीलारूपेषु सर्गादिषु परिगणितत्वाच्च. ‘‘स च गोपीभिः स्तोभित’’ इत्यादिना निरूपितः.

नन्वत्र लक्षणमिदमनुपपन्नम्, भक्तानां प्रापञ्चिकत्वेन भगवतस्तद्विषयकासक्तौ प्रपञ्चविस्मरणाभावादिति चेत्, उच्यते. अवधारितं च तेषु त्वया प्रापञ्चिकत्वं केन प्रमाणेन? न तावत् प्रत्यक्षम्, तेषांलीलासृष्ट्यतिरिक्तजनप्रत्यक्षागोचरत्वात्. भक्तविशेषप्रत्यक्षस्याप्रापञ्चिकतानुकूलत्वात्. ‘‘सदा पश्यन्ति सूरय’’ इति श्रुतेः, ‘‘यद्धि पश्यन्ति मुनयः’’ ‘‘ते एव पश्यन्ति’’ ‘‘पश्यन्ति ते मे’’ इत्यादिवाक्यैः. एतत्प्रपञ्चान्तःपाते भक्तानां सगुणदृग्विषयताया अनिवार्यत्वात्. अत एवाप्रापञ्चिकत्वं बोधयन् निजैश्वर्यस्य ‘‘दिव्यं ददामि ते चक्षु’’रिति प्रभुरुक्तवान्. नाप्यनुमितिः, अनुकूलतर्काभावात्. न च दृश्यत्वादेरनुकूलतर्कत्वमिति वाच्यम्, दृश्यत्वस्य प्रागुक्तप्रकारैर्व्यवस्थापितत्वात्. शब्दस्तु ‘‘जयति जननिवासः’’ ‘‘तद्विष्णोः परमं पदम्’’ ‘‘मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्’’ ‘‘तं भजन् निर्गुणो भवेत्’’ ‘मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्’ ‘‘मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्त’’ इत्यादिवाक्यैरनुकूल एव इति नानुपपन्नं किञ्चित्. ननु अस्तु भक्तानां तथात्वम्, तथापि भगवतोप्रतिहतज्ञानशक्तेः प्रपञ्चविस्मरणं कथमुपपाद्यत इति चेत्, इत्थम्. भगवान् हि पुष्टिमार्गे अङ्गीकुर्वन् स्वधर्मानपि त्यजति, विपरीतांश्च विदधाति. ‘आत्मारामोऽप्यरीरमत्’ ‘आत्मारामोऽप्यखण्डितः’ ‘‘ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्’’ ‘न पारयेहम्’ इत्यादिवाक्यैः. एवं सति यत्र निरोधं चिकीर्षुर्भवति प्रभुः, तत्र तदनुकूलस्वस्वरूपमपि सम्पादयतीति तदर्थमज्ञत्वमपि युक्ततरम्. विविधानन्तशक्तिमत्वेन तत्र सर्वोपपत्तेः. न च विरोधादज्ञत्वे सर्वज्ञत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम्. विरुद्धविविधधर्माधारत्वस्य भगवति ‘‘तदेजति तन्नैजति’’ इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात्. एतच्च यथा तथा अस्मत्स्वामिभिर्निरूपितं विद्वन्मण्डने. न च अज्ञत्वस्य अविद्याजन्यत्वनियमेन भगवति तदभावात् तथात्वमसम्भवीति वाच्यम्. अविद्याया अपि ‘‘श्रिया पुष्ट्ये’’तिवाक्यात् तच्छक्तित्वेन तदधीनत्वात्. न च ‘‘बन्धोस्या विद्यया अनादि’’रिति वाक्यादविद्याश्रयत्वे तया बन्धसम्भव इति वाच्यम्.

तस्यास्येतिपदेन जीवविषयत्वस्य वाक्ये एवोक्तत्वात्. अत एव श्रीमदाचार्यैर्निरूपितं निबन्धे ''विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते, ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशते''ति. तं च धर्मं प्रभुः पुष्टिमार्ग एव आविर्भावयतीति ''मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी''ति वचनादवसीयते. अत एव निरूपितं केनचित् भगवत्स्वरूपतत्वाभिज्ञेन 'संमुष्णन्' इत्यादि. तदेतत् सर्वमाचार्यै''र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम'' इत्यत्र निरूपितामिति सुहृदयैस्तत एव विभावनीयम्.

अथ किं तस्य कारणमिति चिन्त्यते. न तावन्निरोधो लोक इव वासनया जन्यत इति वक्तुं शक्यम्. तस्या अनुभवजन्यत्वात्. भगवतश्च साक्षात्कारात् प्राक् लौकिकविषयविषयीन्द्रियाविषयत्वेन अननुभवात्. साक्षात्कारे तु दिव्यदृष्टिदानेन तथात्वसम्भवात्. ''दिव्यं ददामि ते चक्षु''रिति वाक्यात्, ''कश्चित् धीर'' इतिश्रुतेश्च. नापि भक्तिः, सा हि द्विधा, मर्यादापुष्टिभेदेन, तत्र न तावदाद्या, तस्या ''भक्त्या त्वनन्यया'', ''विशते तदनन्तरम्'' ''ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः, द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षण'' इत्यादिवाक्यैः सायुज्यमुक्तिफलकत्वेन[1] निरोधाजनकत्वात्. ननु ''भक्त्या सञ्जातयाभक्त्ये''त्यादिवाक्यैर्मर्यादाभक्तेः पुष्टिभक्तिपलकत्वेन तस्याश्च निरोधसाधकतया कथं न परम्परयैतस्या अपि तज्जनकत्वमिति चेत्, न पुष्टिभक्तेरपि तज्जनकत्वस्य विचार्यत्वेन मर्यादायामप्रसक्तेः. न हि सापि साक्षान्निरोधं साधयति, किन्तु भगवतः साक्षात् तत्साधनत्वे निमित्तमात्रं सा. अन्यथा ''कृष्णेन चोद्धृता'' इति वाक्यं विरुध्येत. न हि निरोधः कदाचिदपि स्वकृतसाधनैः सिध्यति. अत एवोक्तमाचार्यैः ''आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापिहरिणा कृत''मिति. अत एव व्रजसीमन्तिनीष्वेव निरोधः सिद्धः, नान्येषु, भगवता तत्रैव तथा सम्पादितत्वात्. अत एव श्रीमदाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्यां ''यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थस्यात् तदैव ही''ति दुर्लभत्वमेवोक्तम्. तर्हि किमाकस्मिकतैवेति चेत्, न स्वरूपस्यैवानुग्रहविशेषसहकृतस्य हेतुत्वात्. तद्विशेषश्च सर्वात्मभावसाध्यफलदानेच्छैवेति सङ्क्षेपः. यद्यपि भावनागुणगानादेः साधनता श्रूयते, तथापि फलस्य निःसाधनत्वभङ्गभिया योगक्षेमसाधारणं साध्यत्वमादाय सा वक्तव्येति भावः.

अथ कथं तस्य फलत्वमिति चिन्त्यते. सुखदुःखाभावान्यतरत्वाभावात् प्रत्युतासक्तेः स्वविषयाप्राप्त्या दुःखसहकृतत्वाच्चेति. अयमर्थः. निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिः, सा च स्वविषयविषयकविविधमनोरथजनको भावः, तस्य च रसरूपत्वेन सुखरूपत्वात्. ''रसं हि एवायं लब्ध्वा आनन्दीभवती''ति श्रुतेः. प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वेन प्रापञ्चिकदुःखाभावरूपत्वाच्च. किञ्च, फलं पुरुषार्थः, तत्वं च तेन स्ववृत्तितयेष्यमाणत्वम्. तथा च आसक्तिमध्यपतितदुःखस्यापि

---

१ पुरुषोत्तमसायुज्येति पाठः

आकाङ्क्षणीयत्वेन तथात्वम्. ‘‘विपदः सन्तु ताः शश्वत्’’ इति वाक्यात्. अन्यथा श्येनादावपि तज्जन्यनरकस्य तदुभयरूपत्वाभावेन फलत्वं न स्यात्. ननु शत्रुविपत्तिरेव तत्र फलम्, न नरक इति चेत्, न. ‘‘भूयान् मे नरकोऽपि शत्रुर्विपद्यतामि’’तिधिया श्येनकरणात्. सुखसाधनं तदिति चेत्, तदा प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिः. न च सुखभ्रमात् प्रवृत्तिरिति वाच्यम्. नरके सुखभ्रमायोगात्. तस्मात् पुरुषार्थस्यैव फलत्वेन दुःखसम्भिन्नस्यापि निरोधस्य फलत्वमिति. वस्तुतस्तु दुःखमेव न, किन्तु रसान्तर्गतत्वेन प्रभुप्राकट्यसाक्षाद्धेतुतया परमानन्द एव. अत एव श्रीशुकैर्दिवा वियोगदुःखानुभवसमयेपि ‘‘रेमिरेऽहःसु तच्चिता’’ इत्युक्तम्. श्रीमदाचार्यैरप्यभिहित ‘‘मतो निरोधो महाफल’’ इति. तस्मान्निरोधः सकलफलमूर्धन्यं फलमिति सिद्धम्.

ननु कथमत्र निरोधस्य दशमार्थस्य परमफलत्वसिद्धिः. तदुत्तरवर्तिस्कन्धद्वयप्रतिपाद्यलीलाद्वयरूपमुक्त्याश्रययोरन्यतरस्यानयस्यैव वा ततात्वोक्त्यौचित्यादिति चेत्, न. मुक्त्याश्रययोरेतदुपयोगित्वेन स्कन्धद्वयेन प्रतिपादनात्. तथाहि. निरोधे चास्ति प्रकारद्वयम्, सगुणनिर्गुणभेदेन, निर्गुणे त्वन्यैव व्यवस्था. सगुणे तु निरुद्धभक्तदेहस्य भौतिकतया निवर्तनीयत्वेन भक्तिमार्गप्रकारेण निवर्त्य देहमलौकिकं लीलोपयोगिनं सम्पाद्य स्वान्तःस्थापयित्वा ततो लीलेच्छायां स्वस्थानाद्विमोचयति, पुनः तदुपरतौ स्वाश्रितानेव करोतीति लीलाद्वयं सगुणनिरोधोपयोगित्वेन निरूपितमिति न परमफलत्वसिद्धिविरोध इत्यर्थः.

अतःपरं निरोधरूपपरमफलं निरूपयन्तः तत्साधनं साक्षात्परम्पराभेदेन गौणमुख्यभेदेन वा निरूपयितुं तन्निमित्तकारणभूतयोर्भावभावनगुणगानयोर्मध्ये प्रथमं श्लोकत्रयेण मुख्यं भावभावनं दुर्लभत्वबोधाय स्वविषयकतयैव प्रार्थनारूपेण निरूपयन्ति यच्च दुःखमिति. निरोधे हि साधनद्वयम्, तद्भावभावनं गुणगानं वा. तत्र भावनीयभावश्च सर्वात्मभावेन निरुद्धानां सुखदुःखात्मको, ‘‘विकलत्वं तथास्वास्थ्य’’मिति वाक्यात्. तथा च तद्भावनं साधनं निरूपयितुं प्रपञ्चविस्मृतिसम्पादकतया अभ्यर्हितं प्रथमं भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयन्ते ‘‘यच्च दुःखमिति.

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्।।१।।

यदिति प्रसिद्धं श्रीभागवतादौ परमार्तिरूपं प्रभुप्राकट्यकारणं युगपदनुभूताखिललीलानुभावकं लोकविलक्षणं प्रभुस्वरूपात्मकं वस्तुतः फलरूपं चकारात् तत्संवलितसुखशबलितमपि **दुःखं यशोदाया** अशास्त्रीयभक्तायाः सर्वथा

दयाधिकरणभूतायाः यावद्भाववद्धृदयदेशाधिष्ठितस्थायिभावोत्पत्तिनिमित्तभूतायाः, तथा **नन्दादीनां** श्रीनन्दप्रभृतीनामखिलव्रजवासिनां चकारात् तत्सम्बन्धिनामन्येषामपि यद्दुःखं भगवता परमफलदित्सुना दत्तं येनैवं कथनं "मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रया" इत्यादि, तदपि **गोकुले** सर्वथा निरोधस्थाने स्थानस्थितानामेव सम्पादितं **दुःखं मम क्वचि**दपि स्यादित्यग्रिमेण सम्बन्धः. एवं श्रीयशोदानन्दादिदुःखं भगवतो दानक्रमेण प्रार्थयित्वा अतिदुरापं गोपिकादुःखं प्रार्थयन्ते **गोपिकानां त्विति**. तुशब्दः पूर्वस्मादौत्कट्यवैलक्षण्यादिबोधकः. गोपिकानां व्रजसीमन्तिनीनामात्मत्वभक्तवश्यत्वादिर्धर्मैः सर्वथा निरुद्धानां यत्स्वरूपात्मकं रसात्मकतया प्रसिद्धं श्रीभागवतादौ, वस्तुतो भावांशभूततयानन्दरूपं **तद्दुःखं मम क्वचिदपि** देहेन्द्रियप्राणान्तरःकरणेषु **स्यादि**ति अभिलाष इत्यर्थः. ननु व्रजवासिनो हि सर्वेपि सर्वथा सर्वात्मभावेन भगवन्तमानन्दनिधिं प्राप्ताः परमानन्दसमुद्रनिमग्ना दुःखलेशसम्भावनारहिताः स्वाश्रितशोकनिरसनसमर्थाः आनन्दसृष्टिसमुत्पन्नाः, तद्दुःखप्रार्थनमसम्भावितमिव भातीति चेदुच्यते. "रसो वै स" इतिश्रुत्या भगवान् रसात्मक इत्यविवादम्. स च स्वशास्त्रसिद्धप्रकारक एव तथा भवतीति प्रभोरपि तथा मन्तव्यं रूपमकामेनापि त्वया. तथा च पूर्वरसरीत्या स्वरूपानन्ददानं "आत्मना प्रथमा लीले" त्याद्युक्तप्रकारेण पञ्चधा देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु जायत इति तेषामतिव्यक्ततया तन्निष्ठस्वरूपानन्दस्यापि व्यक्तत्वेन पश्यतां तत्र सुखत्वव्यवहारः, यत्रोत्तररीत्या रसदानं तन्मनस्येवेति तस्याव्यक्ततया तन्निष्ठस्वरूपानन्दस्यापि तथात्वेन बहिःप्राकट्याभावात् तत्र दुःखत्वव्यवहार इति तमादाय दुःखमित्युक्तम्. वस्तुतस्तु स महानानन्द इति दशमस्कन्धविवृतावसकृदभिहितामिति सहृदयैः तत एव विभावनीयमिति दिक्।।१।।

एवं भावनार्थं भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयित्वा श्रीयशोदानन्दादिसुखप्रार्थनस्य रासस्त्रीभावपूरितविग्रहत्वेन स्वस्यायोग्यतया तदप्रार्थ्य गोपिकानामेव सुखं भावोत्तरांशभूतं प्रार्थयन्ते **गोकुले गोपिकाना**मिति.

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति।।२।।

भगवतो हि स्थानद्वये गोपिकासम्बन्धिनी लीला, सैव ताभिर्विरहे सर्वदा अनुभूयते सङ्गेनेव च तत्र सुखमिति. तत्र प्रथमं **गोकुले** भगवतो लीलाभिर्वत्सपुच्छावलम्बनहैयङ्गवस्तेयनृत्यगीतपीठकानयनादिभिर्गोपिकानां सर्वथा परिगृहीतानां चकारात् तद्द्वारकमन्येषां गोपादीनां

शय्यास्तरणस्थलसमीकरणादिभिरसङ्कोचेन सर्वेषां व्रजवासिनां तत्सम्बन्धिसम्बन्धिनां पक्ष्यादीनां च **यत्सु**खमनुभूयमानलीलालयसम्पादकम**भूत्** तत् **किं मे मम** मत्सम्बन्धी वा हृदयस्थो भगवान् किं **विधास्यति** विशेषेण करिष्यति पोषयिष्यतीति वार्थः. किमिति प्रश्नार्थकाव्ययप्रयोगेण एतत्सुखप्राप्तेर्लीलारूपप्रभुप्राकट्याधीनतया पूर्वोक्तदुःखाप्तितो दुर्लभत्वं सूचितम्. अन्यत्र तथा करणे सामर्थ्याभावमाशङ्क्ययाहुः **भगवानि**ति. स हि सर्वत्र सर्वं कर्तुं समर्थः, अतः कृपायामन्यत्रापि तथा करिष्यतीत्यर्थः।।२।।

एवं भावनार्थं भावांशद्वयं प्रार्थयित्वा कदाचिदतितीव्रविरहभावोत्पत्तौ नाशसम्भावनायामुद्धवागमनजनितोत्सवोऽपि तथाभावनिवर्तकतया स्फूर्तिविषयो जात इति भावान्तःपातेपि लीलाजनितसुकविलक्षणत्वादेकदेशभूतं तमप्यंशं प्रार्थयन्ते **उद्धवागमन** इति.

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्।।३।।

उद्धवस्य उत्सवात्मकस्य **आगमने जात**ः प्रकटीभूतो यः सर्वविलक्षणो भगवत्सरूपावयवदर्शनेन तदीयत्वनिर्धारणात् उत्पन्नः यः स्वार्थदूतप्रेषणाभिमत्यात्मको **य उत्सवो** व्रजसीमन्तिनीनां **यथा** येन प्रकारेण **तथा** तेनैव प्रकारेण तद्भावभावनायां **मे** मम **मनसि क्वचित्** कदाचिदपि स्यादित्यभिलाष इत्यर्थः. अयमुत्सवो नन्दादीनां गोपिकानां च जात इति व्यवस्थया स्थानद्वयं निर्दिशन्ति **वृन्दावने गोकुले** वेति. वृन्दावने पुष्टिस्थाने रहसि व्रजस्त्रीणाम्**, गोकुले गोष्ठे** नन्दादीनामिति व्यवस्था. ''गच्छोद्धव व्रजम्'' ''प्राप्तो नन्दव्रज''मिति सामान्योक्त्यावसीयते. नन्वागमनोत्सवप्रार्थने प्रभ्वागमनसमयोत्पन्न''स्तं विलोक्यागतम्'' इत्यादिनोक्तः स कथं न प्रार्थित इति चेत्**,** तत्राहुः सुमहानिति. प्रियागमनोत्सवापेक्षया विरहे तद्दूतागमनोत्सववैशिष्ट्यस्यानुभवसिद्धतया विरहरसपोषकत्वेन चायमुत्सवः ततोपि सुतरां महानित्यर्थः।।३।।

एवं अलौकिकसामर्थ्यरूपो मुख्यो निरोधः स्वस्यैवेति तत्साधननिर्देशः प्रार्थनाव्याजेन स्वविषयतयैव कृतः, अन्येषां तु भगवान् महापुरुषकृपया तदधिकारानुसारेण सायुज्यं सेवोपयोगिदेहं वा दास्यतीत्यभिप्रायेण तावत्पर्यन्तं स्थितिप्रकारमाहुः **महतामि**ति.

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि।।४।।

यावत् भगवान् दययिष्यति फलोन्मुखां दयां करिष्यति **तावत् कीर्त्यमानः** कीर्तनविषयीक्रियमाणः एव स **सुखायेत्यर्थः**. “महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे” “विना महत्पादरजोभिषेकम्” ‘किरातहूणान्ध्र’ “देवर्षिर्मे प्रियतमः” “त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन” “सदनुग्रहो भवा”नित्यादिवाक्यैर्भगवतो दयायां च नान्यत्कारणमिति वक्तुमाहुः **महतां कृपये**ति. **महतां** भगवद्धर्मैः महत्वमापन्नानां कृपया करुणयेत्यर्थः. अनवतारदशायां विशेषतो महापुरुषद्वारैवोद्धारात्. एतेन इदानीं भक्तिमार्गस्य ते एव निर्वाहका इत्युक्तं भवति. ननु कीर्त्यमानेपि भगवति फलपर्यन्तं श्रमेण कर्मादिष्विव दुःखमेवेत्याशङ्क्ययाहुः **आनन्दसन्दोह** इति. भगवत आनन्दसमुदायरूपत्वेन तद्गुणानामपि तदभिन्नतया स्वरूपसमानयोगक्षेमत्वात् साधनदशायामपि तत्कीर्तनेन आनन्द एव भवति, न कर्मादिभिरिव दुःखमित्यर्थः. अत एव अवगतभगवत्कथारसः परीक्षित् एतदर्थकमेव ‘श्रोत्रमनोभिरामाद्’ इतिगुणानुवादविशेषणमुक्तवान्. हीति युक्तोयमर्थः. कीर्तनविषयस्यानन्दसन्दोहरूपत्वे सुखस्य युक्तत्वात्।।४।।

ननु कीर्तनं हि सुखसाधनम्, तत्र महतां कृपयेति को वाग्रहः यताकथञ्चिदपि कृतं तत्तथेति प्रश्नेनेत्याहुः **महतां कृपये**ति.

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्।।५।।

यद्वत् यथा महतां महापुरुषाणां **कृपया** करुणया लोकविलक्षणानां भगवत्सम्बन्धिनां कृपया निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छया सदा कालापरिच्छेदेन **कीर्तनं सुखदं** तापत्रयनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्ददायकं निरोधजनकं वा **तथा लौकिकानां** लोकसम्बन्धिनां महापुरुषद्वारा अभगवच्छरणागतानाम्, अत एव केवलसंसारासक्तानां कीर्तनं न तथेत्यर्थः. वैलक्षण्यं वक्तुं लौकिकं दृष्टान्तमाहुः **स्निग्धभोजनरूक्षवद्** इति. स्निग्धञ्च तद्भोजनञ्च स्निग्धभोजनम्, तच्च रूक्षं च, अर्थात् रूक्षभोजनम्, तयोरिव तद्वदित्यर्थः. तथा च यथा स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथा महापुरुषकृपाविशिष्टतदविशिष्टकीर्तनयोरपीत्यर्थः. एतेन स्निग्धभोजनस्य पुष्टिसाधकत्ववत् महापुरुषकृपाविशिष्टकीर्तनस्य पुष्टिफलसाधकत्वम्, रूक्षस्य तदसाधकत्ववत् लौकिककीर्तनस्य तत्फलासाधकत्वमुक्तमितिभावः. स्निग्धस्य घृतप्लुतस्यान्नादेर्भोजने रूक्षः प्रीतिरहितस्तस्य भोजनमिवेत्यर्थः. यथा कस्यचित् ज्वराद्यभिभूतस्य स्निग्धं वस्तु न रोचते तस्य यथा तद्रसानभिज्ञरसज्ञस्य प्रतिदिनं क्षीयमाणशरीरस्य न तद्भोजनं पुष्टिफलं, तथा महापुरुषकृपाऽभावरूपदोषयुक्तानां तादृशकीर्तने रूक्षाणां लौकिकानां कीर्तनस्य न पुष्टिफलत्वमिति भावः. यद्वा,

स्निग्धं भोजनं यस्य च चार्थात् तद्रूक्षश्च तयोरिवः तद्वदित्यर्थः. तथा च यथा स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथा अलौकिकलौकिककीर्तनकर्त्रोरपीत्यर्थः।।५।।

ननु सुखसिद्ध्यै दयापर्यन्तं कीर्तनं कर्तव्यत्वेन निरूपितम्, तत्र 'तरतिशोकमात्मवित्' 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती'त्यादिश्रुतिभिः ज्ञानेनैव दुःखनिवृत्या सुखप्राप्तेर्ज्ञानावस्थयैव स्थेयम्, किं गुणगानेन इति चेत्, तत्राहुः **'गुणगान'** इति.

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः।।६।।

यथा **गोविन्दस्य** गोगोकुलपतेर्निःसाधनाधिपस्य गुणानां **गाने** स्तुतिबुद्ध्या कथने **शुकादीनां** सिद्धज्ञानफलानामपि सुखम्, तथा तेषामेव **आत्मनि** स्वात्मविषये जायमानं ब्रह्मात्म्यैकबोधेन सुखं **न तथे**त्यर्थः. यद्वा यथा भक्तैः क्रियमाणे गुणगाने तच्छ्रवणेन गोविन्दस्य प्रभोः सुखावाप्ति“र्मद्भक्ता यत्र गायन्ति” इतिवाक्यात् तथा तत्कर्तॄणामपि शुकादीनां **आत्मनि** अन्तःकरणे **ने**त्यर्थः. तथा च प्रभोरतिशयिततोषहेतुतया ज्ञानमार्गस्थित्यपेक्षया सुखाधिक्याच्च गुणगानेनैव स्थातव्यमिति भावः. अत एव “लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च हित्वाश्रितास्ते चरणातपत्रम्” “परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्माः” “अथ ह वाव तव महिमामृत” 'यदनुचरित' 'तव कथामृतम्' 'श्रवणाद्दर्शनात्' “येऽन्योन्यतो भागवता” इत्यादिवाक्यैर्गुणगानपराणां इतरनैरपेक्ष्योक्त्यापि स्वतःपुरुषार्थत्वं सर्वाधिकफलत्वं चावगम्यते गुणगानस्य. इतोऽपि तदेव कर्तव्यमिति भावः. तदेवाहुः **कुतोऽन्यत इति. अन्यत** ज्ञानादिभ्यो विषयादिभ्यो वा कुत एतत्सुखमित्यर्थः. “ज्ञाने प्रयासमुदपास्य” 'निवृत्ततर्षैः' 'नैषातिदुःसहे'त्यादिवाक्यैः श्रीभागवते तथैव निरूपणात्. ननु “तरति शोकमात्मवित्” “तमेव विदित्वातिमृत्युमेती”त्यादिश्रुतेः का गतिरिति चेद् अत्र वदामः. तस्मा'न्मद्भक्तियुक्तस्ये'त्यादिवाक्यैर्भक्तिमतो ज्ञानानपेक्षणात् ज्ञानिनस्तु 'नैष्कर्म्यमपी'त्यादिवाक्यैः सर्वथा भक्त्यपेक्षणात् तन्निरपेक्षभक्तिमार्ग एव समीचीनः. तथा च मोक्षरूपाक्षयसुखसाधकत्वं ज्ञानस्यापि भक्तिसहकृतस्यैवेति केवलज्ञानस्थितिमपहाय केवलभक्तावेव स्थितिः कर्तव्येत्यर्थः. श्रुत्यादिषु ज्ञानफलोक्तिस्तु दुःखाभावपर्यवसन्नैव. परमानन्दावाप्तिस्तु भक्त्यैव. वस्तुतस्तु दुःखाभावोऽप्येतदधीन एवं. 'अनर्थोपशम'मितिवाक्यात्. अत एव आचार्यैरानन्दमयाधिकरणे 'एवं सती'त्यारभ्य “स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्या पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवती'ति निर्णीयत इत्यभ्यधायि।।६।।

ननु कृते गुणगाने किं भवतीत्याशङ्क्य तत्र प्रवृत्यर्थं परिचायकं फलमाहुः

क्लिश्यमाननिति.

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः॥७॥

गुणगाने तत्स्वरूपस्मृत्या तत्प्राप्त्यर्थं **क्लिश्यमानानुपतपतो जनान् दृष्ट्वा** अवलोक्य यदा परीक्षासाधनसम्पत्तौ **कृपायुक्तो भवेत् तदा सर्वं** सर्वांशपूर्णं **सदानन्दं** परं ब्रह्म यशोदोत्सङ्गलालितं हृदिस्थं परमव्योम्नि प्रादुर्भूतं **बहिः** प्रकटं भवतीत्यर्थः.

अत एव व्रजसीमन्तिनीनां गुणगानेन हृदि प्रादुर्भूय 'तन्मनस्का'इत्यादिना तथाभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूत इत्युच्यते. तदेवोक्तमाचार्यैः “नहि साधनसम्पत्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्. भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधन”मिति. सदानन्दहृदिस्थमितिपाठे **सदानन्दस्य** भगवतो **हृदिस्थं** अभिप्रायादिकं बहिर्निर्गतं भवतीत्यर्थः. अयमाशयः. “रुरुदुः सुस्वरम्” इत्यादिना गुणगानसमय एवातिदैन्यभावे यदा कृपायुक्तो जातस्तदा तत्र स्वाभिप्रायः प्रभुणैव “मया परोक्षं भजता” “न पारयेहम्” इत्यादिना आविर्भावित इत्यन्यत्रापि गुणगाने क्लेशेन प्रादुर्भूय स्वकृपां ज्ञापयिष्यतीति तदाशया गुणगानमेव कर्तव्यमित्यर्थः॥७॥

ननु किमिति कृपापेक्षया गुणगानेन क्लेशः सम्पादनीयः, ज्ञाननिष्ठया ब्रह्मनिष्ठतैव सम्पाद्यतामिति चेत्, तत्राहुः **सर्वानन्दमयस्यापी**ति.

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।

---

१ कर्मादिभ्य इति पाठः २ सर्वथा दुःखाभावस्य भक्त्यधीनत्वादेवेत्यर्थः. एवं सतीत्यादिग्रन्थस्यायमाशयः. ब्रह्मविदाप्नोति पर’मित्यत्र श्रुतौ अक्षरब्रह्मविदः परब्रह्मप्राप्तिरित्युच्यते. “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य” इतिश्रुत्यन्तरे च ज्ञानादीनां साधनत्वनिषेधपूर्वकं वरणस्यैव साधनत्वं प्रतिपाद्यते. एवं सति श्रुतिद्वयविरोधपरिहाराय अक्षरब्रह्मज्ञानेन अविद्यानिवृत्या शुद्धत्वसम्पादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता सम्पाद्यत इति ब्रह्मविदाप्नोतीतिश्रुत्याशयः. एवं योग्यतासम्पत्तावपि पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तु तादृशज्ञानवतो जीवस्य स्वीयत्वेन वरणे सति भक्तिभावोत्पत्तावेव भवतीति ‘नायमात्मे’तिश्रुत्याशय इति भाष्ये एवं सतीत्यादिग्रन्थेन निर्णीयते. एवं च ज्ञानेनाविद्यानिवृत्तावपि पुरुषोत्तमप्राप्त्यभावजनितदुःखं तु नापैति. तस्मात् सर्वात्मना दुःखाभावस्तु भक्त्यैवेत्यत्रार्थे भाष्यमप्यनुकूलमेवेति भावः.

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्।।८।।

‘‘एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती’’तिश्रुतेः सर्वत्र स्थितो य आनन्दः स भगवति प्राचुर्येण वर्तत इति तदाश्रितस्य मानुषानन्दमारभ्याब्रह्मानन्दं न कस्यापि दुर्लभत्वम्, ‘‘सर्वं मद्भक्तियोगेन’’ इतिवाक्यादपि, तथापि **कृपानन्दः** कृपारूपो य आनन्दः, भगवद्धर्माणां स्वरूपाभिन्नतया आनन्दरूपत्वात्. यद्वा, पुष्टिमार्गप्रवेशानुकूलानुग्रहरूपया कृपया य आनन्दो भजनानन्दाख्यः स सुतरां दुर्लभः. ब्रह्मानन्दस्यापि दुर्लभत्वात्. ‘‘सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुन’’ इतिवाक्यात्. भजनानन्दस्तु दुर्लभ एव. सम्भवति साधनमिह किञ्चिदिति चेत्? गुणगानमेवेति गृहाण. अत एव दुर्लभतैव तस्योक्ता श्रीमदाचार्यैः. ‘‘लौकिकस्त्रीषु संसिद्धस्तद्द्वारा पुरुषे भवेत्, स्वानन्दस्थापनार्थाय योग्यतापि निरूपिता, अतो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यत’’ इत्यादि. एतदर्थस्तु तत एव विभाव्यताम्, विस्तरभियात्र न लिख्यते. तथा च यत्रैतादृगनुग्रहस्तत्रैतदधिकारित्वात् तदानन्दप्राप्तिरित्येतदभिसन्धायुक्तं **कृपानन्दः सुदुर्लभ** इति. श्रीभागवतेपि ‘नेमं विरिंचयः’ ‘नायं सुखापः’ ‘क्वेमाः स्त्रियः’ ‘आसामहो’ इत्यादिवाक्यैर्दुर्लभत्वनिरूपणाच्च. कथं दुर्लभ इति आकाङ्क्षायां तन्निरूपकं तत्कार्यमाहुः **हृद्गत** इति. **हृद्गतः** हृदयप्रविष्टः स कृपानन्दः स्वरूपात्मकः **स्वगुणान्** गीयमानान् **श्रुत्वा पूर्णः** प्रतिक्षणं प्रवर्धमानो रसपूररूपः सन् **जनान्** जननादिधर्मयुक्तानपि **प्लावयते** स्वाविर्भावितरससिन्धौ निमज्जयतीत्यर्थः. अत एव ‘बर्हापीडे’तिपद्ये स्वामिनीनां हृदि वेणुपूरितसुधाद्वारा भावात्मकः प्रभुरन्तःप्रविष्टो‘ऽक्षण्वताम्’इत्यादिभिस्तद्वर्णितगुणश्रवणेन देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु ‘‘पूर्णः क्रीडामयतामेव सम्पादितवा’’नित्यभिहितम्. अत एवोक्तमाचार्यैर्युगलगीते ‘‘अन्तःप्रविष्टो भगवान् मुखादुद्धृत्य कर्णयोः, पुनर्निवेश्यते सम्यक् तदा भवति सुस्थिर’’ इति।।८।।

एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति **तस्मा**दिति.

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः।।९।।

यस्माद्धेतोः कर्मज्ञानोपासनामार्गेभ्यो भक्तिमार्गे निरतिशयितनिजविषयो ‘येत्विहासक्तमनसः’ ‘यदक्षरं वेदविदो वदन्ति’ ‘‘विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः’’ ‘‘पूजादिना ब्रह्मलोकम्’’ इत्यादिवाक्यैः **तस्मा**द्धेतोः **सर्वं** कर्मज्ञानोपासनादिकं **परित्यज्य** सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैर्भगवता स्वीयत्वेन वृतैः अत एव

किञ्चिद्विस्मृतप्रपञ्चैः, तदर्थं साधनानि विदधद्भिः, **सर्वदा** निरन्तरं ‘‘सर्वं मद्भक्तियोगेने’’ति वाक्यात् सर्वं ददतीति सर्वदाः सर्वेष्टदातारो **गुणा** एव **गेया** इत्यर्थः. ननु ‘‘वेदमार्गानुसारेणे’तिवाक्यात् तथा भजने क्रियमाणे तन्मार्गस्य व्याक्यातृभिरन्यताकृतत्वात् कं पक्षं अवलम्ब्य गुणान्गायेदित्याशङ्कायामाहुः **सदानन्दपरै**रिति. **सदानन्दः** साकारानन्दमयः **परः** परमात्मा परमाकाष्ठापन्नो, न तु पुच्छादिभावापन्नो येषां तादृशैरित्यर्थः. अधिकारिविशेषणमेतत् अनेन मायावादादिमतमनादृत्य ब्रह्मवादे स्थित्वा गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम्. ब्रह्मवादे एवानन्दमयस्यानन्दमयाधिकरणे परमकाष्ठापन्नत्वोक्तेः. ततः किं भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः **सच्चिदानन्दता तत** इति. **तत**स्तेभ्य एव गीयमानेभ्यो गुणेभ्यो जीवस्य सच्चिदानन्दता गुणत्रयाविर्भावेनाक्षररूपतया पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता भवतीत्यर्थः. **स्वत** इतिपाठे गुणगाने क्रियमाणे स्वत एव वस्तुस्वभावात्तथात्वम्, न तु तदर्थं प्रयत्नान्तरापेक्षेत्यर्थः।।९।।

एवं निरोधार्थं गीयमाना गुणा निरोधलक्षणलीलासम्बन्धिन एव भवितुं युक्ता इति तत्स्वरूपज्ञापनाय स्वस्य निरोधविवृत्तिकर्तृत्वमितिवदन्तः फलाव्यभिचारितासिद्ध्यैस्वेषामर्थे प्रभुं विज्ञापयन्त इव स्वानुभवनिरूपणेन स्वजनप्रवृत्तिं द्रढयन्ति **अहं निरुद्ध** इति.

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोध वर्णयामि ते।।१०।।

अहं रोधेन सर्वं रोधयति प्रतिबध्नाति भगवदतिरिक्तमिति रोधो निरोधलीलानुसन्धानजन्यः सर्वत्र बाधकत्वस्फूर्तिरूप आसक्तिधर्मभूतो भावविशेषः, तेन **निरुद्धः** प्रपञ्चविस्मृत्या तदासक्तो, निरोधस्य **पदवीं** श्रुतिविमृग्यां स्वतन्त्रभक्तिरूपां **गतः** प्राप्त इत्यर्थः. ननु एतादृशस्य किं निरोधवर्णनप्रयासेनेत्यत आहुः **निरुद्धानां त्विति.** निरुद्धत्वे प्रकारान्तरद्योतनाय तुशब्दः. भगवता शास्त्रानुसारेण महापुरुषद्वारा प्रमेयबलेन वात्मसात्कृतानां रोधाय निरोधजनकासक्तिधर्मरूपभावविशेष सिद्ध्यर्थं **निरोधं** लीलारूपं भक्तेषु भगवत्कृतं वर्णयामीत्यर्थः. वर्तमानक्रियापदात् स्वस्य सर्वदैतदभिनिवेशः सूचितः. अत एवातिकरुण इति प्रभुभिः श्रीवल्लभाष्टके विशेषणं निरूपितमाचार्याणाम्. स्वेषामर्थे भगवन्तं विज्ञापयन्तः इवाहुः त इति. त्वत्सम्बन्धिना तेषां त्वत्सम्बन्धिनं निरोधं वा. अत उभयथापि तवैवायं भार इति भावः।।१०।।

---

१ विधेयविशेषणमिति पाठः

नन्वेतादृशेषु गुणेषु विद्यमानेषु कथमत्र सर्वे न प्रवर्तन्त इत्याशङ्क्य तदभाग्यमेव हेतुत्वेनाहुः **हरिणेति**.

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्।।११।।

ये इति भाग्यरहिता यतस्ते हरिणा सर्वदुःखहर्त्रापि भगवता विशेषेण नितरां **मुक्ताः** सर्वथा त्यक्ताः. उपसर्गद्वयं कथमपि तेषां प्राप्त्यभावाय. ‘‘निबन्धायासुरी मते’’ति प्रयोजनाभिधानात्. ‘मामप्राप्यैवे’ति शिरश्चालनेनार्थनिरूपणे यथाकथञ्चित् तत्सम्बन्धे सति प्राप्तिस्तु प्रमेयबलेनेतिदिक्. अत एव व्यासोपि श्रीभागवते ‘‘विना पशुघ्ना’दित्युक्तवान्. ननु तेषां किं फलमित्याकाङ्क्षायामाहुः **ते मग्ना** इति. ते आसुराः कर्मिणो दैवा अपि **भवः** जन्ममरणप्रवाहः स एव सागरस्तत्र **मग्नाः** सर्वानुसन्धानरहिता इत्यर्थः. तस्य सागरत्वं नक्रादिगिलनसम्भावनया, तत्र तथा पुनरुन्मज्जनासम्भवः, एवमत्रापि कामादिभिर्ग्रासेन पुनर्मोक्षमार्गप्रवेशासम्भव इत्येतद्धर्मसाम्येन निरूपितम्. निरुद्धानां व्यवस्थामाहुः **ये निरुद्धा** इति. भगवता **ये निरुद्धा** महापुरुषद्वारा स्वतो वा आत्मसात्कृता**स्त एवात्र** गुणगाने **मोद**मानन्दमासमन्ताद् **यान्ति** प्राप्नुवन्ति. एव कारेणान्येषामनिरुद्धानां कथञ्चिदपि मोदासम्भव इति निरूपितम्. तेषां गुणेष्वरुचेः. तद्रुचिस्तु भगवदनुग्रहेणैव. अत एव नलकूबरमणिग्रीवाभ्यामनुग्रहानन्तरमेव ‘‘वाणी गुणानुकथन’’ इत्यादि निरूपितम्. उक्तं च तथैवास्मत्प्रभुचरणैर्भक्तिहंसे ‘‘तदर्थित्वस्यैव वरणकार्यत्वा’’दिति. अहर्निशमिति. न तेषां क्षणमपि सांसारिकदुःखसम्भव इत्युक्तम्. ‘‘मद्वार्तायातयामाना’’मितिवाक्यात्. याममात्रमप्येतद्वार्तापरत्वे गृहादेरबन्धकत्वमित्यहर्निशं तथात्वे किं वक्तव्यमित्यर्थः।।११।।

ननु गुणगानं निरोधसाधकतया कर्तव्यमित्युक्तम्, तदिन्द्रियाणां वैमुख्ये न सम्भवतीति तन्निवर्तकमुपायमाहुः **संसारावेशदुष्टानामिति.**

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्।।१२।।

संसारस्य अहन्ताममतात्मकस्य प्रपञ्चासक्तिसम्पादकस्य य आवेश आसमन्तादिन्द्रियेषु प्रवेशस्तेन दुष्टानां भगवद्वैमुख्यरूपदोषयुक्ताना**मिन्द्रियाणां** चक्षुरादीनां **हिताय** भगवत्परतया हितं कर्तुं **सर्ववस्तूनि** दारागारपुत्रादीनि **कृष्णस्य सदानन्दस्य** योजयेद् युक्तं कुर्यादित्यर्थः. कर्मादीनां सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येवेति सप्तम्यर्थे षष्ठी. ननु कृष्णे सर्ववस्तुसमर्पणेन कथं इन्द्रियाणां दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्य

आहुः **ईशस्येति**. स हि समर्थ आधिदैविकतामपि सम्पादयितुं तस्येन्द्रियमात्रदोषनिवर्तकत्वे किमाश्चर्यमिति भावः. यद्वा, इन्द्रियाणि स्वतो विमुखान्येव, “पराञ्चि कानि व्यतृणत्स्वयम्भूरि”ति श्रुतेः, तेषां **हिताय कृष्णस्य** भगवतः सम्बन्धीनि **सर्ववस्तूनि** लीलासृष्टिस्थानि भावनयेन्द्रियैः सह **योजये**दित्यर्थः. एतदे‘वाक्षण्वता’मित्यस्य विवरणे “भगवता सह संलाप” इत्यादिना निरूपितमिति तत एव विभावनीयम्. नन्वीशत्वेपि सर्वत्रेन्द्रियादिषु सम्बन्धाभावे कथं दोषनिवर्तकत्वमित्याशङ्क्ययाहुः **भूम्न** इति. भूमा सर्वव्यापकोऽतो ये यथा भावयिष्यन्ति तत्र तथा प्रकटीभूय सम्बद्धो भविष्यतीत्यर्थः. यद्वा, **भूम्न** इति तादर्थ्ये चतुर्थी. तथा च “भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयती”ति तार्तीयीकादिकरणनिरूपितभूमशब्दवाच्यसर्वात्मभावरूपफलसिद्धये सर्ववस्तुसमर्पणं कर्तव्यमित्यर्थः. तत्राधिकरणे “यो वै भूमा तत्सुख”मित्युक्त्वा भूमस्वरूपजिज्ञासायां “यत्र नान्यत्पश्यती”त्यादिना सर्वात्मभावस्वरूपमेव निरूपितम्।।१२।।

ननु भगवतो दयावधि महतां कृपया गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम्, सा च पुनर्गुणगाने क्रियमाणे कदा भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः **गुणेष्वाविष्टचित्ताना**मिति.

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्।।१३।।
तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।। १३।। ।।

यदा भगवतो गुणेषु ऐश्वर्यादिषु सौन्दर्यादिषु वा **सर्वदा** अव्यवधाने**नाविष्टचित्ताना**मन्यानुसन्धानरहितान्तःकरणानां “तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति ही”त्याचार्यवचनादासक्त्या वर्धमानया संसारो लौकिकेष्वहन्ताममतारूपः विरहक्लेशो भगवद्विरहेण क्लेशश्च तावुभौ न स्यातामित्यर्थः. “शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते. क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते” “परस्परं त्वद्गुणवादः” “ये योन्यतो भागवतो” “तव कथामृत”मित्यादिवाक्यैर्गुणाविष्टचित्तानां संसारविरहक्लेशाभावोक्तेः. अन्यथा सर्वपरित्यागो वियोगे जीवनं च न सम्भवेत्. यद्वा, संसारस्तेन च यो विरहक्लेशो अभिलषितविनाशे तौ न स्यातामित्यर्थः. अत एवोक्तं श्रीभागवते ‘तस्मिन्महन्मुखरिता’ इत्यारभ्य “तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहा”इत्यन्तम्. अथवा संसारो भगवत्यहन्ताममतारूपस्तस्य विरहेणाभावेन यौ क्लेशौ अन्यसम्बन्धप्रभ्वसम्बन्धजन्यौ तौ न स्यातामित्यर्थः. गुणाविष्टचित्तत्वे सर्वथा

भगवद्विषयकसंसारोत्पत्तेरन्यसम्बन्धाभावाच्च. ननु संसारः सर्वथा हेयः, कथं भगवद्विषयकः फलसाधक इति चेत् न. भगवद्विषयककामादेरिव तस्यापि फलसाधकत्वेन सतामपेक्षणीयत्वात्. अत एव "कुर्वन्ति गोवत्सपदम्" इत्यत्र वत्सपदमात्रकरणोक्त्या "अहमेतद्दासो अयं मम स्वामी"त्येतावान् संसारः स्थापितो भवतीति निरूपितमाचार्यैः. गुणाविष्टचित्तत्वेऽनिष्टनिवृत्तिरेव न किन्तु इष्टप्राप्तिरपीत्याहुः **हरिवत्सुखमिति**. यथा हरेः सर्वदुःखहर्तुः भगवतः सर्वदैवान्तर्धानदशायामपि भक्तसाहित्येन सुखं पूर्णानन्दत्वाच्च, तथा गुणाविष्टचित्तानामपि अन्तस्तदाविर्भावात् सर्वदा प्रभुसाहित्येनान्तररमणेनानन्दपूर्णत्वाच्च, तेषामपि **सुख**मित्यर्थः. "सदा सत्सङ्गयुक्तानामवस्थैवं यदा भवेत्, तदा दयालुता दैन्यदर्शनात् तु हरेर्भवे"दित्याशयेनाहुः **तदा भवेद् दयालुत्व**मिति. यदा पूर्वोक्तरीत्या गुणगानं सिध्यति तदा भगवतो दयालुत्वं प्रादुर्भावहेतुभूतं **भवे**दित्यर्थः. **अन्यथे**ति. भक्तानामेवंभूतत्वाभावे भगवतोपि क्रूरता अनवेक्षकत्वेन **मता** सर्वशास्त्रसम्मता इत्यर्थः. अत एव 'नैवात्मन' इति श्लोके भगवत आत्मनः प्रभोर्निजलाभपूर्णस्य विद्वज्जनोपहृतमानाग्रहीतुः करुणया किङ्करनिवेदितानुग्राहकत्वामुच्यते श्रीभागवते. सा च पूर्वोक्तभावेनैव भवतीति सर्वमनवद्यम्।।१३, १३।।

ननु कालकर्मस्वभावादिभिर्बुद्धिनाशोद्वेगादिदोषैः प्रतिबन्धसम्भवे कथं गुणगाननिर्वाह इति चेत्, तत्राहुः **बाधशङ्कापि नास्त्यत्रे**ति.

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति।।१४।।
भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्।।१५।।

अत्र गुणगाने कालादि**बाधशङ्कैव** न, यतो भगवतैवोक्तं श्रीभागवते, "न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नंक्ष्यन्ति नो निमिषो लेढि हेति"रिति. अन्यत्रापि "आयुर्हरति वै पुंसां उद्यन्नस्तमयन्नसौ. तस्यर्ते यः क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तये"ति. एवं गुणगाने बाधाभावमुक्त्वा सर्वत्र तदवभासरूपं प्रत्युत साधकं धर्ममाहुः **तदध्यासोपि सिध्यतीति**. गुणगाने तस्य भगवतः अध्यासः सर्वत्रावभासः सोप्यवान्तरफलतया सम्यक् सिद्धिविषयो भविष्यतीत्यर्थः. अध्यासपदं घटादिसर्वपदार्थेषु भगवदवभासस्य भावप्रयुक्तत्वेन वस्तुत आसक्तिभ्रमबोधनाय. अन्यथा घटादेः पुरुषोत्तमाभिन्नत्वं स्यात्. न हि घटादिः साक्षात् तदभिन्नः, किन्तु परम्परया. तस्याक्षरात्मतया तद्द्वारा तथात्वात्. अन्यथा तावद्धर्मविशिष्टत्वं

तेष्वप्यभिदध्यात्. ननूच्यन्त एव ब्रह्मधर्माः सच्चिदानन्दादयस्तेष्विति चेत्, अक्षरगतानामेव तेषां तद्वृत्तितया व्यपदिश्यमानत्वात्. अन्यथा बर्हापीडत्वादयोपि व्यपदिश्येरन्. न चेष्टापत्तिः, तदसाधारणधर्माणामन्यत्र कथनस्यानुचितत्वात्. किञ्च, सर्वेषां धर्माणां साधारणत्वे तद्गतासाधारणधर्माभावे लक्षणाभावादनिरूप्यत्वं सर्वसमत्वं सर्वावैशिष्ट्येनाभजनीयत्वं च स्यात्. तस्मदभेदस्याक्षरसमानाधिकरणत्वेन तद्धर्मव्यपदेश एव, न पुरुषोत्तमधर्मगन्धोपीति बुध्यस्व. नन्वैश्वर्यादयो व्यपदिष्टा एव, किं न ते पुरुषोत्तमधर्मा इति चेत्, सत्यम्, तद्धर्मा एव, परन्तु अक्षरस्य चरणरूपत्वेन तदभिन्नतया तेषां तत्र सद्भावात्. यतो व्यासादिष्वपि तदिच्छयैव तत्सद्भावः. “युक्तं भगैः स्वै”रिति वाक्यात्. एवं सति “उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः” “पुरुषः स परः पार्थ” ‘भेदव्यपदेशाच्चे’ इत्यादिश्रुतिसूत्रमीमांसया अक्षराभेदः पुरुषोत्तमभेद इति भेदाभेदवादोऽस्माकमिति दिक्. ननु “निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना”दिति वाक्यात् वैराग्यस्य गुणगानाङ्गत्वेन अतिदुर्लभस्याभावेङ्गहीनत्वेन कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्य तदप्यनेनैव भविष्यतीति साधनसाधकत्वरूपमुत्कर्षमाहुः **भगवद्धर्मसामर्थ्या**दिति. **भगवद्धर्मो**त्र गुणगानं, गीयमाना ये भगवतो धर्मा ऐश्वर्यवीर्यादयः, तस्य तेषां वा **सामर्थ्या**द्वस्तुशक्तेरेव, **विषये** भगवदतिरिक्तविषये, विरागो रागाभावः, **स्थिरः** अन्यापरिभाव्यो भवतीत्यर्थः. “सा श्रद्दधानस्य विवृद्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंस” इति वाक्यात्. यद्वा, भगवद्धर्मा लीलादयः, तत्सामर्थ्यादासक्तिजननरूपादेव विषयविषयकविरागो भवतीत्यर्थः. अत एवोक्तं श्रीभागवते, “परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेताः” “इत्थंभूतगुणो हरि”रित्यादि. ननु भगवद्धर्मसामर्थ्येन सुखसाधनेषु विषयेषु विरागे गुणगायकानां दुःखं स्यादित्याशङ्क्ययाहुः **गुणैर्हरिसुखस्पर्शा**दिति. गुणानां स्वरूपाभिन्नत्वात् तैरेव हरिसुखस्य प्रभुसम्बन्धिसुखस्य हृदयदेशे **स्पर्शात्** सम्बन्धाद्विषयविरागेण शीतोष्णक्षुधादिसहनेपि कर्हिचिदपि दुःखं न भाति, भगवदानन्देन पूर्णत्वादित्यर्थः।।१५।।

एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति **एवं ज्ञात्वे**ति.

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः।।१६।।

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण **ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने उत्कर्षं ज्ञात्वा** सर्वापेक्षां परित्यज्य **सदा** कालाव्यवधानेन **गुणा** एव **वर्णनीयाः**. अत्र बाधकद्वयं त्यागार्थमाहुः **अमत्सरैरलुब्धै**रिति. मात्सर्यलोभयोरत्यन्तबाधकत्वात् त्याज्यत्वम्. “निर्मत्सराणां

सता”मिति वाक्यात्. लोभश्च लौकिकक्षेत्रादितुल्यतापादकतया बाधकः. अत एवोक्तं भक्तिहंसे “वृत्यर्थं चेत् कृषिवल्लौकिक एवे”त्यादि।।१६।।

ननु गुणगानं गतानादिवशीकृतचित्ततया न कार्यं निरोधार्थत्वादिति तत्सिद्ध्यर्थं गीयमानलीलाविशिष्टस्वरूपध्यानं साधनमाहुः **हरिमूर्तिः सदा ध्येये**ति.

हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा।।१७।।
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलशान्त्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्।।१८।।
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः।।१९।।

हरेः प्रभो **मूर्तिः** स्वरूपं सदा **ध्येया** स्मरणीयेत्यर्थः. नन्वदृष्टूपस्य कथं ध्यानमित्याशङ्क्य तस्यान्याशक्यमनोरथपूर्तेः सर्वथा निःसाधनस्य गजेन्द्रस्येव रक्षार्थं भगवानाविर्भवतीति न दर्शने दौर्लभ्यमिति ज्ञापयितुं **हरी**ति. ननु योग इव कल्पितमूर्तेरुपासनायामिव सम्पादिताद्यस्तक्रियाविशेषप्रयुक्तमूर्तीना ज्ञान इव सोपधानमूर्तेर्ध्यानमिहापि भविष्यतीत्याशङ्क्ययाहुः **मूर्तिरि**ति. भक्त्याविर्भूतूपस्यैव ध्यानम्, न त्वन्यथाभूतस्येत्यर्थः. अन्यथा कल्पिताकारत्वे यथाकथञ्चिद्धरिर्ध्येय इत्येव वदेयुः. **ध्येये**ति कृत्यप्रत्ययेनावश्यकत्वं द्योतितम्. ननु ध्यानसहितगुणगाने किं भवतीत्याशङ्क्य तदवान्तरफलमाहुः **सङ्कल्पादपी**ति. ध्यानस्य का कथा, यतः सङ्कल्पाद्विचारमात्रादपि तत्र ध्यानविषयप्रभुस्वरूपे प्रादुर्भावाद्भगवतो **दर्शनं** सर्वावयवावलोकनरूपम्, **स्पर्शनं** चरणादितद्रूपम्, तथा **कृतिः** शिरसि कराम्बुजधारणादिरूपा, **गति**र्विलासरूपा, एतत्सर्वं ध्यानपूर्वकगुणगानेन सङ्कल्पमात्रात् प्रादुर्भूतभगवत्स्वरूपे **स्पष्ट**मबाधितम्न तु भ्रमप्रतीत्या, प्रतिक्षणमनुभूतं भवतीत्यर्थः. ननु श्रुतानां पुनः कीर्तनेन स्थिरीकृतानां गुणानां गानं सम्भवतीति तदर्थं श्रवणकीर्तने आहुः **श्रवणं कीर्तन**मिति. श्रवणं हि भगवद्वाचकानां पदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः, तदनु **कीर्तनं** श्रुतस्य स्थैर्यसिद्ध्ये पुनः पुनः स्वतः सर्वत्र कथनम्, एतद्द्वयमपि सङ्कोचादिकमकृत्वा कर्तव्यम्. अन्यथा श्रवणकीर्तनयोरसम्भावनाविपरीतभावने स्याताम्. अत एवोक्तं श्रीमदाचार्यैः श्रीभागवततत्वदीपे “सर्वथा तद्गुणालापं नामोच्चारणमेव वा, सभायामपि कुर्वीत निर्भयो निःस्पृहस्तत” इति. श्रोतृसापेक्षं कीर्तनम्, तन्निरपेक्षं गानमिति तयोर्विवेकः.

ननु ‘‘काममयोयं पुरुष’’ इति श्रुतेः सर्वथा ध्याने सङ्कल्पानन्तरं यत्किञ्चित् कामसम्भवात् गुणगाने कीदृशः कामः कर्तव्य इति तमाहु पुत्रे कृष्णप्रिय इति. पुत्रे सङ्कल्पपुत्रे सङ्कल्पोत्पन्ने **कृष्णस्य** सदानन्दपुरुषोत्तमस्य अलौकिके सर्वपरित्यागपूर्वकधर्मिस्वरूपमात्राभिलाषरूपे कामे **रतिः प्रीतिः कार्येत्यर्थः**. एतेन सर्वात्मभावभावनं सर्वदा कर्तव्यमित्युक्तं भवति. तस्य भाव्यमानस्य कामस्य शरीरपरिवर्तनलक्षणं फलमाहुः **पायोरि**ति. **पायोः** सर्वशरीरगतमलाधिष्ठानस्य स्वमलांशमात्रेणैवाखिलशरीरलौकिकतापादकस्य सम्बन्धी यो **मलांशो** लौकिकविषयभोगजन्यस्तस्य सर्वात्मभावभावने ‘‘सन्त्यज्य सर्वविषया’’नित्यादिवाक्यैः सकारणस्य त्यागेन **तनौ** शरीरे सा अलौकिककामरतिः **शेषभागं** मलरहितांशरूपं भगवत्सम्बन्धयोग्यतापादकं **नयेत्** प्रापयेदित्यर्थः. **पुत्र** इति सामान्यपदमस्यार्थस्यातिगोप्यत्वेन परोक्षवादसूचनाय. नन्वेतादृशस्यापि ‘‘तादृशस्यापि सतत’’मितिवाक्याद् दुःसङ्गादिना भावनाशसम्भवादुपायमाहुः **यस्ये**ति. **यस्य** पुत्रादेरिन्द्रियादेर्वा **भगवत्कार्यं** सेवागुणगानादि **स्पष्टं** प्रातिकूल्येन न **दृश्यते** शिक्षायामपि, **तदा** सति सामर्थ्ये **तस्य** विशेषेण भरणादिकमकृत्वापि **निग्रहः** कर्तव्य इत्यर्थः. अन्यथा सत्यां शक्तौ तदनिग्रहे ‘‘अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती’’ति न्यायेन तद्रतौ पुत्रे कृष्णप्रिये इत्यनेन विरोधापत्तिरित्यत आहुः **इति निश्यच** इति. इदमुक्तं भवति. भगवत्कार्यानुकूल्ये रतिः, प्रातिकूल्ये निग्रहः, सर्वथा असम्भवे त्यागः, शरणभावनं वा कर्तव्यम्, ‘‘प्रतिकूले गृहं त्यजेत्’’ ‘‘अशक्ये हरिरेवास्ती’’तिवाक्यादिति भावः।।१७, १८, १९।।

एवं निरोधे साधनद्वयं निरूप्य सर्वेभ्यः साधनेभ्यः तयोरुत्कर्षं वदन्त उपसंहरन्ति **नातःपरतरो मन्त्र** इति.

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्।।२०।।

मन्त्रे हि कामितफलदत्वं देवतावशीकरणं च प्रसिद्धम्, तदत्र कामनाप्रसरमनोरथान्तफलसिद्ध्या अनिर्बन्धेन प्रभुवशीकरणादतः साधनयुग्माद् मन्त्रः परतरः. अविलम्बेन साधकत्वात् कर्मादिभ्य उत्कृष्टत्वेपि एतस्मादतिशयेन नोत्कृष्ट इत्यर्थः. ननु प्रभुप्रसादहेतुतया अनिर्बन्धेन स्वामिवशीकरणाच्च स्तवस्योत्कृष्टत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्ययाहुः **नातः परतर स्तव** इति. स्तवस्य मन्त्रादिभ्यः प्रसादसाधकतयोत्कृष्टत्वेपि प्रभुवशीकरणाभावादेतस्मादतिशयेन नोत्कर्ष इत्यर्थः. ननु ब्रह्मविद्यायाः ‘‘प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः’’ ‘‘ज्ञानी त्वात्मैव

मे मत” इत्यादिवाक्यैः प्रभुप्रीतिसाधकतया साक्षात्कारहेतुत्वात् सकलपातकभस्मीकाराच्च उत्कृष्टत्वमित्याशङ्क्ययाहुः **नातः परतरा विद्ये**ति. विद्या हि पञ्चपर्वा, स्वसिद्धौ साक्षात्कारमात्रं सम्पाद्य तत्र लयं विधाय केवलमनसा ब्रह्मानन्दमनुभावयति. तदुक्तं अस्मदाचार्यैः श्रीभागवततत्वदीपे “ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमे”ति, भावभावनगुणगाने स्वस्मिन् प्रभुः प्रादुर्भावं सम्पाद्य देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु स्वरूपात्मकमानन्दं पूरयित्वा सर्वैरिन्द्रियैरन्तःकरणैरात्मनापि तदानन्दमनुभावयत इत्यन्येभ्य उत्कृष्टापि विद्या नैतस्मात् साधनयुग्मादुत्कृष्टेत्यर्थः. अखिलपापभस्मीकारस्तु “दुःसहप्रेष्ठविरहे”तिवाक्यादत्राप्यवगन्तव्यः. नन्वेतत्सर्वं चित्तशुद्धौ सम्भवति, अशुद्धचित्तस्य सर्वसाधनवैफल्यात् तच्छोदकतीर्थाश्रयस्यावश्यकत्वात् तीर्थस्योत्कृष्टतामाशङ्कय आहुः **तीर्थं नातः परात्परमि**ति. तीर्थस्य सकलसाधनमूलभूतमनोमार्जकतयोत्कृष्टत्वेपि गुणगानादेः “सत्वं च शुध्यत्यचिरेण पुंस” इतिवाक्यादविलम्बेन चित्तशोधकत्वात् सर्वतीर्तरूपत्वाच्च साम्प्रतं तेषां दुष्टावृतत्वेन तिरोहिताधिदेवत्वेन चासाधकत्वादेतस्मात् **परात्** सर्वोत्कृष्टात् साधनयुग्मात् तीर्थं न परं उत्कृष्टमिति स्वसिद्धान्तनिष्कर्षो निरूपित इति दिक्।।२०।।

स्वाचार्यचरणद्वन्द्ववन्दनादरसाधनात्. निरोधलक्षणग्रन्थं विवव्रे हरिदासकः।।१।।

इतिश्रीमन्निजाचार्यचरणाभिषेकलब्धमहाराज्यसुखानुभूतिश्रीहरिदास-विरचिता निरोधलक्षणविवृत्तिः समाप्ता।।

श्रीकृष्णाय नमः।

निरोधलक्षणम्।

श्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवरणसमेतम्।

भक्तभावात्म[१]रूपाय तन्मार्गव्यञ्जकाय च।तद्दानायात्तदीक्षाय स्वाचार्यप्रभवे नमः।।१।।
विरागादिन्द्रियाणां वै निग्रहे सति साधनैः।यमादिभिश्च विज्ञाने ज्ञाने भवति सत्फलम्।।२।।
तदभावेन सर्वेषु प्राकृतांशानिवृत्तितः।भक्तिमार्गे कथं साक्षात् फलं भवति तत्ततः।।३।।
निःसाधनाङ्गीकृतस्य स्यात् फलं रोधतो यथा।तदर्थं साधनं रूपं तस्य स्वाध्वनि वर्ण्यते।।४।।

प्रथमं दशमार्थनिरूपणे निरोधशब्देन ''निरोधोस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः प्रपञ्चे क्रीडनं हरे''रिति वाक्यात् साक्षाद्भगवत्क्रीडनमुक्तम्. तत्क्रीडनं लीलासृष्ट्यन्तर्गतभक्तानां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं सकलेन्द्रियनिरोधे सति भवेदिति दशमस्कन्धे भक्तानां चित्तवृत्तिनिरोध उक्तो भक्तिमार्गे. तत्र पुनः प्राकट्यदशायां तु साक्षादङ्गीकृतानां पुष्टिमार्गीयप्रोद्भूतभावाङ्कुराणां परमभाग्यवतां व्रजसम्बन्धिनां निरोधः स्वरूपेणैव कृतः, साम्प्रतं तत्प्राकट्याभावादाधुनिकानां स्वाङ्गीकृतानां स्वमार्गीयतत्साधनाज्ञानात् कदाचिद् ज्ञानरीतिनिरोधसाधनेषु प्रवृत्तिर्भवेदिति तदभावार्थं श्रीमदाचार्यचरणाः कृपया ज्ञानमार्गीयसाधननिषेधपूर्वकं स्वमार्गीयनिरोधसम्भवे सर्वथा यदपेक्षितं मूलकारणं तन्निरूपयन्ति **यच्चे**ति.

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्।।१।।

अत्रेदमाकूतम्. गोकुलं तु विविधविहरणेच्छाजनितसहजकृपया साक्षाद्भगवता पुष्टिमार्गेङ्गीकृतमतः स्वानन्ददानार्थं लोके प्रकटितमपि तादृशाङ्गीकाररूपबीजस्वभावजनिततद्वासनया तदनुरूपोद्भूतभावाङ्कुरमेवासीदिति तद्भावस्वभावाद्दुःखमपि तत्र स्थितम्, येन साक्षाद्भगवत्प्राकट्यमभूद्, अग्रे सुखादिकमपीत्यधुना स्वकीयानामपि तादृशनिरोधमार्गिणां तादृशमेव दुःखं तत्तन्निरोधेन तत्प्राकट्यसाधकम्, अतस्तदेवैवं स्वस्मिन्सम्भावनया सर्वदा भावनीयमिति स्वकीयान् प्रति लक्षयन्ति. तथा हि. अन्वयार्थस्तु स्पष्ट एव. यदित्यनिर्वचनीयत्वमुक्तम्. चकारोप्यर्थकः सम्भावनायाम्. तथा च सुखं तु दुर्लभमेव दुःखमपि चेत्स्यादिति. एतद्दुःखस्य ब्रह्मानन्दस्यापि तुच्छकर्तृत्वात् सर्वोत्कृष्टत्वेनातिदुर्लभाधिकारज्ञापनाय सम्भावनेवोक्ता, न तु प्रार्थनम्. तत्रापि **क्वचित्**

---

१ भक्तभावस्वरूपायेति पाठः.२ निरोधे इति पाठः.

कदापि भविष्यति, यदि भवेत्तदा किं वाच्यमिति सर्वदोत्कण्ठापेक्षितेति सूचितम्. एवं सति एतद्भावानुरूपं दुःखमेव निरोधसाधकमिति ज्ञेयम्. दुःखं तु भगवत्प्रादुर्भावात् प्रागपि श्रीमातृचरणानां श्रीनन्दादीनां च पुत्रोत्पत्तितल्लालनक्रीडावलोकनादिविविधमनोरथात्मकमासीदेव, तथैव श्रीस्वामिनीनामपि प्रभुप्राकट्याशया तत्तन्मनोरथात्मकं तथा. ततः प्राकट्यानन्तरमपि बाल्ये पूतनादिदर्शनजनितभयेन क्रूरदृष्ट्यादिपतनरूपम्. ततः प्रभोरतिचञ्चलस्वभावेन शृङ्ग्यग्निभयरूपं क्रीडासक्त्या भोजनादिविलम्बजनितार्तिरूपं च. श्रीस्वामिनीनामपि प्राकट्यानन्तरं क्षणमात्रावलोकनाभावेन स्थातुमशक्त्या विविधकार्यव्याजेन मुहुर्मुहुः श्रीमातृचरणसमीपागमनं तद्धेतुकमेवेति तादृशं तथा. प्रातर्यावत्पर्यन्तमुन्निद्रायत विकसन्नवसरोजदलसदृशमीक्षणयुगलमुन्मीलयेत्प्रभुस्तावत्तत्तापा सहिष्णुतया ‘चिरविरहे’त्युक्तप्रार्थनहेतुरूपं च. ततो गोचारणगमनादिषु प्रातरारभ्य सन्ध्यावधि तददर्शनजनिततत्तन्मनोरथात्मकं च. अग्रे नादनिष्ठामृतपानानन्तरं स्वामिनीनां तु स्पष्टमेव. अग्रेपि रासलीलायां साक्षात् पूर्णरसदानपर्यन्तं तिरोधानजनितविचित्रभावात्मकं च. पुनरग्रे विप्रयोगस्फूर्तौ स्पष्टमेव. ततस्तस्य ‘‘संस्मृत्य संस्मृत्ये’’त्युक्तवात्तत्तल्लीलानुस्मरणकीर्तनादिना सर्वदा तदात्मकत्वात्तदस्फूर्तौ दुःखभानाभावाद्यथा पूर्वमेव प्रभुस्थितिं मन्यमानानां भक्तानां श्रीमदुद्धवोपदेशेन महद्दुःखार्णवनिमज्जनं चेत्यादि रूपम्, तथा चेद्ग्रुपे दुःखे जाते पूर्णो निरोधः सिद्धो भवतीति श्रीमदाचार्यैरेतद्दुः खान्तर्गतानिर्वचनीयसुखानुभवहेतु भावात्मकैः कृपया स्वकीयानामप्येवमेव तदपेक्षितमिति तदेव सम्भावनीयमिति तथोक्तम्।।१।।

एवं तेषां दुःखं सम्भाव्य तत्तदनन्तरजनितमनिर्वचनीयं तत्तत्सुखमपि तद्दुःखानुभवे सम्भावयन्ति **गोकुले** इति.

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति।।२।।

तद्दुःखहेतुकप्राकट्यानन्तरं महोत्सवादिबाल्यमारभ्य प्रेङ्ख पर्यङ्कान्दोलनादिरिङ्गण क्रीडादानदधिदुग्धादिचौर्यान्तर्गतयावत्केलिवत्स गोचारणान्तनिलायनप्रभृतिवेणुगीतव्रत गोवर्धनोत्सवरासान्तं स्वस्वमनोरथपूरकं तथा. तदनन्तरं विप्रयोगे जाते तल्लीलास्मरणेन तदात्मकतया दुःखभानाभावात् तदस्फूर्त्या यथा पूर्वबुद्ध्या मिश्रितं सर्वविलक्षणं च श्रीस्वामिनीनां तथा **सर्वेषां व्रजवासिनां** च श्रीगोकुले **यत्सुखं** सम्यगनिर्वचनीयम**भूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यती**ति

पूर्वोक्तरीत्यैव तदभिलाषोपेक्षित इति भावः. यद्यप्यतिदुर्लभं तथापि सर्वसामर्थ्यवत्वेन पूर्वं यथा स्वयमेव कृतवांस्तथाधुनापि करिष्यतीति ज्ञापनाय भगवत्पदम्।।२।।

एवं निरुद्धानां दुःखसुखाभिलाषां स्वस्मिन्निरूप्य पुनस्तादृशसुखानन्तरं विप्रयोगजनिते दुःखेपि विलक्षणसुखविशेषोत्पादकः कश्चनोत्सवो जायत इति तं सम्भावयन्ति **उद्धवागमन** इति.

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्।।३।।

यथा देशान्तरगते प्रिये तत्प्रेषितगृहसेवकागमने तन्मात्रादीनां विशेषतः प्रियायाश्चप्रियकृतस्वस्मरणजनितौत्सुक्यविशेषेणोत्सवो भवतीति लोकरीतिः, प्रकृते तथोद्धवस्य भगवद्भावेन सर्वदोत्सवरूपस्य प्रियसन्देशहारकस्य भगवदीय**स्यागमने उत्सवः** सुतरामलौकिकत्वेन **महान्यथा जातः** सुमहत्पदेन तस्योत्सवस्य तदनुभवैकवेद्यत्वेनाशक्यनिर्वचनमुक्तम्. कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाहुः **वृन्दावने गोकुले वे**ति. वेति चार्थे. तेन **वृन्दावने** श्रीस्वामिनीनां **गोकुले** श्रीमातृचरणानामिति विवेकः. तथा **मे मनसि** कदापि भविष्यतीति तथापेक्षित इत्यर्थः. उत्सववस्तु मानसोत्साहरूपो मनोधर्म इति मनस्येवाभिलाष उक्तः. अत्रायं भावः. भगवदीयस्य भगवत्सम्बन्धिनि समागते साक्षाद्भगवानेवागत इति तादृशोत्साहः सर्वथापेक्षिताः, नो चेत्, तत्वमेव न भवतीति सिद्धान्तः. एते तु सर्वथा प्रपन्नाः परमभगवदीया इति तेषां सर्वदोत्सवरूपस्योद्धवस्यागमने प्रथमं तत्स्वरूपदर्शनेत्र कोयं भगवद्वेशधारीति विस्मयेनोत्कण्ठारूपोत्सवो जातः, पश्चाद्भगवदीयत्वेन निर्धारितत्वेऽस्मत्प्रियसम्बन्धी गृहे समागतः, तत्रापि परमभक्तो निकटवर्ती ज्ञायते, अहो महद्भाग्यमस्मदीयं यतोऽस्मासु तत्सम्बन्धित्वज्ञानेऽयमत्रागतः प्रेषितो वा, नो चेद्भगवदीयस्तदन्यत्र किमर्थं गच्छेत्. तेन प्रभुकृपाप्यस्मासु भविष्यतीत्यपि ज्ञायते, यतस्तत्कृपाऽभावे भगवदीयस्यागमनं न सम्भवति. किञ्च तद्गृहमेव न भवति यत्र भगवदीयो नायाति, यतस्तदागमने भगवानप्यागच्छतीति प्रभुस्नेहभरवशादुद्धवेऽपि तत्सम्बन्धित्वजनितनिरुपधिस्नेहवात्सल्येनोत्साहभरवशात्तत्सत्कारादिकरणे परमोत्सवो जातः. क्वचिदित्येतादृशस्य दुर्लभत्वमुक्तम्. एवमाधुनिकानामपि निरोधमार्गीयाणां तत्सम्बन्धाभावजनितुदुःखं सर्वदापेक्षितम्, भगवदीयागमने तादृश एवोत्सवोप्यपेक्षितः. एवं सर्वात्मना चित्तादिनिरोधे जाते तेन च साक्षात् प्राकट्येन कृपया सुखमपि दास्यतीति भावोपि ज्ञाप्यते।।३।।

ननु ज्ञानमार्गे तु चित्तनिरोधे जाते ध्यानादिना आत्मसुखं भवति, अत्र दुःखेन

चित्तनिरोधेपि दुःखमेव तिष्ठतीति क उत्कर्षस्तत्राहुः **महतामि**ति.

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि।।४।।

येषां भगवदीयदर्शनमात्रात् परमानन्दानुभावको महानुत्सवो भवति सर्वदा भगवदावेशात्. स्वयमपि उत्सवरूपा अन्तरङ्गास्ते भक्ता महान्तः, तेषां **कृपया यावद्भगवान्** दयां करिष्यति, कृपया प्रादुर्भूय स्वरूपानन्दं दास्यति, तावत्तस्योद्भूतप्रचुरभावैर्भगवदीयैः सह **कीर्त्यमानो** भगवान् साक्षादन्तःप्रकटीभूय सकलेन्द्रियाणामासक्तिं स्वस्वरूपे विधाय **सुखाय** भवति, न दुःखायेति. हृदयस्थ एव तत्तदिन्द्रियेषु स्वानन्दं पूरयतीत्यर्थः. यत **आनन्दसन्दोहरूपः**. यथा स्वरूपं तादृशं तथा गुणा अपि, तेन कीर्तनद्वारापि तथा आनन्ददातेति गुणगानमेव तेन कर्तव्यम्, नान्यदिति ज्ञापितं भवति. अनेन तद्दुःखमपि रसभावात्मकमानन्दात्मकम्, न तु लौकिकविषयात्मकम्. यत्र दुःखस्यापि रसानन्दात्मकत्वम्, तत्र सुखास्यनन्दरूपत्वोत्कर्षः किं वाच्य इति सूचितम्. किञ्च, अत्र प्रभुदयायां हेतुत्वेन महत्कृपोक्ता, तेन महच्छब्देन स्वामिन्य एवोक्ता इत्यवगम्यते. यतोयं रसस्तासामेव, भगवानपि तदधीन एव रसानुभवं करोतीति तत्कृपाऽभावे प्रभोरपि न दयेति महत्कृपयैव सर्वं भविष्यतीति सूचितम्. अत एव "तद्द्वारा पुरुषे भवे"दित्यत्र 'तासामनुग्रहद्वारे'त्युक्तम्. अथवा तद्भावस्वरूपत्वेनात्मसूचकमेव महत्पदं दत्तमिति ज्ञायते. तेनाधुनिकानां श्रीमदाचार्यकृपयैव प्रभुः कृपां कृत्वा आनन्ददानं करिष्यतीति भावः।।४।।

ननु भगवद्गुणगानं सर्वैरेव क्रियते, तेन च सर्वेषां सुखमेव भवति, निरुद्धानां तु को विशेषः, तत्राहुः **महतामि**ति.

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्।।५।।

महतां पूर्वोक्तानां **कृपया** स्वभावदानात्मिकया कृत्वा यथा **कीर्तनं** निरोधमार्गीयाणां **सुदा सुखदं** भवति, यतः परस्परगुणानुवादे प्रोच्छलितरसेन सकलेन्द्रियाणां स्वरूप एव निरोधेन प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं तदानन्दमग्ना एव तिष्ठन्तीति पुनस्तद्रसवासना न गच्छतीति **सदे**त्युक्तम्. **तथा लौकिकानां** प्रमाणधर्मनिष्ठानां तादृग्भावाभाववतां भक्तानां ज्ञानिनामपि तथारूपप्राकट्याभावात्तत्कीर्तनं तथा सुखदं न भवतीत्यर्थः. तत्र दृष्टान्तः **स्निग्धभोजने**ति. एकं स्निग्धभोजनम्, अन्यद्रूक्षम्. स्निग्धभोजनं यथा सकलेन्द्रियाणां सुखदमाप्यायकं भवति, न तथा रूक्षम्, लौकिकेषु

तद्भावाभावाद्रूक्षत्वमेवेति तथा. अत्रैतन्मार्गीयभावाभाववत्सु भक्तेषु ज्ञानिषु च लौकिकपदकथनेन यथा लौकिकालौकिकयोर्यावत्तारतम्यम्, तावत्तारतम्यमेतयोरपीति ज्ञाप्यते. एवं सति निरुद्धानां कीर्तने महानेव विशेष उक्तः।।५।।

ननु सुखदत्वेपि दुःखं तु सर्वदा तिष्ठत्येवेति क उत्कर्षो गुणगाने, एतदपेक्षया ज्ञानिनां सकलेन्द्रियादीनामात्मनि लयेऽत्यन्तदुःखसम्भावनारहितात्मसुखानुभवः सर्वोत्कृष्टः प्रमाणसिद्ध इति चेत्तत्राहुः **गुणगान** इति.

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः।।६।।

गोविन्दस्य गोकुलेन्द्रस्य रसात्मकलीलाविशिष्टस्य **गुणगाने सुखावाप्तिर्यथा निरुद्धानां** जायते प्रकर्षेण, तथा पूर्णज्ञानिनां तत्राप्येकान्तभक्तानां **शुकादीनामात्मनि** आत्मसुखानुभवदशायां नैव भवति, **कुतोन्यतः** भक्तिरहितेष्वित्यर्थः. एवेति निश्चयार्थः. गानद्वारा सुखप्राप्तौ प्रकर्षः साक्षात्स्वरूपप्राकट्यजनित एवेति ज्ञेयम्. यद्यपि श्रीशुकैरेवेयं लीला वर्णिता, भक्तिरसेनापि ते पूर्णाः, तथाप्येतदानन्दानुभवस्तेषामपि न जात इति मुख्यतया शुकपदमेवादौ दत्तम्. एवं सति तत्कृपयैवायमानन्दः प्राप्यः, नान्यथा. तत्रैतद्दुःखमेव साधकमिति तस्यैव परमपुरुषार्थत्वम्, नान्यस्येति. यत्रात्मसुखापेक्षया तद्दुःखस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वम्, तत्र किमु वक्तव्यः सुखोत्कर्ष इति कैमुतिकन्यायेनापि ज्ञाप्यते।।६।।

ननु परमपुरुषार्थत्वेन सर्वदा तेषु दुःखमेव स्थापयति भगवान्, किं वा कदापि बहिः सुखमपि प्रयच्छति, तत्राहुः **क्लिश्यमानानि**ति.

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः।।७।।

एवं **क्लिश्यमानान्** साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभिलाषजनितप्रचुरार्त्या प्रतिक्षणमूर्छाजागरणाद्यवस्थाभेदेनानिशं क्लेशानुभवं कुर्वतः स्वीयान् **जनान् दृष्ट्वा प्रभुर्यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा सर्वं सदानन्दं**सर्वांशपूर्णं सदानन्दस्वरूपं तत्तदिन्द्रियेषु भावात्मकतया सर्वांशेनानन्दपोषार्थं **हृदिस्थम**लौकिककामरूपं वा साक्षात्तत्स्वरूपं **बहिर्निर्गतं** प्रकटं करोति, बहिरानन्ददानार्थं हृदयात् प्रकटो भवतीत्यर्थः।।७।।

एवमयमानन्दः कृपैकसाध्य इत्यतिदुर्लभत्वमाहुः **सर्वानन्दमयस्ये**ति.

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्।।८।।

ब्रह्मानन्दपर्यन्तं यत्र यत्रानन्दो गणितस्तन्मयस्यापि **कृपानन्दः** सुतरां **दुर्लभः**. अथवा सर्वेषां तन्मयस्य स तथा. मुक्त्यादिषु य आनन्दो भवति, सोप्येतदंश एव, परन्तु स साधनैर्भवति, अयं कृपैकसाध्यः, यतो दानं विना न भवति, अतः सुतरां दुर्लभः, न केनापि प्राप्तुं शक्यः. अथवा सुतरां दुःखेन शोभनेन वा **लभो** लाभो यस्येति. समस्तसाधनासाध्यत्वादन्येषां दुर्लभः, तद्गतामेव सुलभ इति सूचितम्. तत्प्राप्तिप्रकारमाहुः **हृद्गत** इति. तादृशदुःखजनिततापार्त्या मिथो गुणानुवादेन स्वगुणान् श्रुत्वा **हृद्गत** एव पूर्णः सकलेन्द्रियव्याप्तः तज्जनितोच्छलितरसाब्धिपूरेणान्तःपुष्टः सन् बहिः स्वस्वरूपं प्रकटीकृत्य **जनान्** स्वीयान् **प्लावयते,** तत्तद्रसाब्धितरङ्गेषु तरणं कारयति. **यथा** यथा सकलेन्द्रियाणां दुःखं जातम् **तथा** तथैव तेषु स्वानन्दं पूरयतीति भावः।।८।।

अतः परमेतत्कथनप्रयोजनमाहुः **अह**मिति.

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम्।।९।।

अहं स्वयं साक्षात् प्रभुणा पूर्वं **निरुद्धः** निरुद्धानां मार्गेऽङ्गीकृतः, **पश्चाद्रोधेन** गुणगानद्वारा सकलेन्द्रियाणिं **रोधेन** निरोधस्य **पदवीं गतः** फलदशां प्राप्तः. **निरुद्धे**ति पाठे निरुद्धानां **पदवीं गतः,** तन्मध्यवर्ती सन् तदानन्दानुभवं प्राप्तः. अतस्तदाज्ञया **निरुद्धाना**माधुनिकानां **रोधाय** तमेव **निरोधं वणर्यामि** कथयामि. एतेन मदुक्तरीतिकरणेन सर्वथा निरोधसिद्धिर्भविष्यतीति ज्ञापितम्. **त** इति पाठे तुभ्यं त्वदर्थं वर्णयामीति कमपि भाग्यवन्तं प्रत्युक्तमित्यन्येषामानुषङ्गिकी शिक्षा सूचिता. किञ्च, यतोहं प्रभुणा साक्षात् स्वयं निरुद्धः, अतो मम वर्णनशक्तिः, नो चेत्, केन वक्तुं शक्य इत्यपि सूच्यते।।९।।

एवं निरोधस्वरूपमुक्त्वा सर्वथा कर्तव्यत्वमाहुः **तस्मा**दिति.

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः।।१०।।

यस्मादेवं सर्वोत्कृष्टत्वेन पराकाष्ठापन्नः सर्वदुर्लभः कृपानन्दः **तस्मात् सर्वं परित्यज्यैतत्प्रापकत्वाभावात् सर्वं** सवासनं त्यक्त्वा **निरुद्धैः** उद्भूतभावाङ्कुरैः **सर्वदा गुणा एव गेयाः** तेषामयमेव सहजो धर्म इति तदभिलाषिभिरपि तदेव कर्तव्यम्, नान्यदिति भावः. गुणास्तु तत्तल्लीलात्मका बहुविधा इति कीदृशानां गानं कर्तव्यमित्यपेक्षायां विशेषणमाहुः **सदानन्दपरै**रिति. **सदानन्दः** साक्षाद्रसात्मकः

पुरुषोत्तमः तत्परैस्तन्निष्ठैः सद्भिः, न त्वितरस्वरूपनिष्ठैः. रसस्वरूपनिष्ठत्वकथनेन गुणा अपि रसात्मका रासादिलीलारूपा एव गेया इति सूचितम्. सदानन्दपरैस्तादृशैर्भगवदीयैः सहेति वा योज्यम्. तेन तादृग्व्यतिरिक्तैः सह न गेया इत्युक्तं भवति. तत्र कथने सर्वथा हानिरेवेति भावः. सर्वदेति क्षणमात्रमप्यन्यथाभावसम्बन्धगन्धाभावार्थम्. **ततः सच्चिदानन्दता** भवति, सर्वत्र भगवदावेशत्तत्स्वरूपात्मकतैव भवेदिति भावः. अथवा **सच्चिदानन्दता** ब्रह्मभावसम्पत्तिः, तेनान्तःसाक्षात्पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता भवति, तस्य तदधिष्ठानत्वादिति सूचितम्. कुत्रापि **स्वत** इति पाठः. तदा **सच्चिदानन्दता** भगवद्धर्मरूपता सात्वस्मिन्मार्गे स्वत एवानायासेनैव भवतीत्यानुषङ्गिकत्वमुक्तम्. यत्र ज्ञानमार्गीयपरमफलमपि गुणगानस्यानुषङ्गिकं फलम्, तत्र साक्षात्फलस्वरूपं किमु वाच्यम्।।१०।।

ननु निरुद्धानामेव सर्वपरित्यागपूर्वकमेतदुच्यते, न अन्येषा साधननिष्ठानाम्, तत्किमिति तत्राहुः **हरिणे**ति.

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्।।११।।

हरिणा सर्वदुःखहर्त्रा ये विशेषेण त्यक्ताः स्वानन्ददानेन दुःखदूरीकरणेच्छाऽभावात् त्यक्ताः **ते** तु **भवसागरे मग्नाः** साधनान्तरप्रवृत्ता अपि एतदानन्दाभावात् तन्मग्ना एवेति भावः. **ये** तद्दानेच्छया **निरुद्धाः** पुष्टिमार्गाङ्गीकृताः, केवलस्वरूपनिष्ठभावैकसाधनाः. **त एव** तत्कृपया तादृशं **मोदमायान्ति** बाह्याभ्यन्तरं रसपूर्णाः सन्तस्तदानन्दसमुद्रमग्ना एव तिष्ठन्ति, तदप्य**हर्निशम्,** क्षणमात्रमपि न तदानन्दविच्छेद इति भावः. अतो निरुद्धानामेवायमानन्दः, न साधननिष्ठानामपीति तदर्थमेवोच्यत इति सर्वं सुस्थम्।।११।।

ननु निरुद्धानामपि पूर्वस्थितसंसारस्य विद्यमानत्वात् तत्तद्विषयासक्तेन्द्रियाणां तद्विस्मरणमशक्यमिव भाति, तदभावे गुणगानादिप्रवृत्तिरप्यशक्या, तत्राहुः **संसारे**ति.

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्नि द्वादश योजयेत्।।१२।।

निरोधार्थंकेवलपुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्यसाधनान्तरप्रवृत्तिनिवृत्योरप्रयोजकत्वादङ्गीकारा स्वभावेन यथा स्वरूपे स्नेहात्मिका प्रवृत्तिर्भवति, न तथा विषयेषु, किन्तु तत्सम्बन्धदोषो निवारणीय इति **संसारावेशदुष्टानां** तत्तद्विषयभोगादिषु

अहन्ताममतात्मकावेशेन दुष्टानां तज्जनितबन्धेन दुःखज्ञानाभावेन तन्निवर्तकधर्मविमुखाना**मिन्द्रियाणां हिताय** प्रीतये पूर्वोक्तस्नेहेन हेतुना **कृष्णस्य** सदानन्दस्य **सर्ववस्तूनि** प्रकरणादेकादशेन्द्रियाणि सम्पूर्णस्वरूपं च, तानि प्रत्येकसमुदायाभ्यां तत्तन्मनोरथात्मकभावनाया भूमीः समस्तस्वेन्द्रियविषयाधिष्ठानानि कृत्वा स्वकीयान्यात्मसहितानि **द्वादश** तत्र **योजयेत्**. यद्यपि निरुद्धस्य स्नेहस्वभावेनैव भगवत्स्वरूपासक्तिः सकलेन्द्रियेषु भवतीति नियमविधिरयम्, तथापि संसारावेशिनामतिक्लेशं वीक्ष्य एतत्सम्बन्धेन ममापि क्लेशदुःखमेव भविष्यति, न तु स्नेहासक्तिजं सुखमिति भयेन ततः सांसारिकधर्मेभ्यः प्रत्यावर्त्य समस्तेन्द्रियाणि तत्र **योजयेत्**. यत्किञ्चित्सम्बन्धेनापि विघ्नो मा भूदिति कर्तव्यविधिरुक्तः. किञ्च, इन्द्रियाणां स्वस्वविषयप्रवृत्तिः सहजा, तथा चातितुच्छं विषयं त्याजयित्वा परमानन्दरूपविषयेषु तानि योजनीयानि तथा चोक्त'मक्षण्वता'मित्यस्य विवरणे "इन्द्रियतामिदमेव फल"मिति, "भगवता सह संलाप" इत्यारभ्य "एवं तद्भावनं सदे"त्यन्तम्. अत्र तु द्वादशैव तद्विषया उक्ता इत्यत्रापि तावत्सङ्ख्ययैवोक्ता. एवं सत्याधुनिकानामपि सांसारिकधर्मेभ्यः परावर्त्य तानि भगवति योजनीयानीति शिक्षा सूचिता. एवं योजनेन तदासक्तौ सत्यां साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभावात् तद्गुणेष्वेवासक्तिवशादावेशो भवेत्, न त्वन्यत्रेति भावः।।१२।।

ननु एवं योजनेपि तत्तदिन्द्रियाणां पूर्वसंसाराध्यासात् तत्तद्विषयेषु यत्किञ्चिदहन्ताममतात्मकः संसारस्तिष्ठेदेवेति तत्यागजनितक्लेशोऽपि तत्प्राप्त्यभावाद् भवेदिति कथं सुखम्? तत्राहुः **गुणेष्विति**.

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्।।१३।।

एवमासक्त्या गुणगाने क्रियमाणे तत्रैवाविष्टचित्ता भवन्तीति मुरवैरिणस्तत्र प्रतिबन्धनिवर्तकस्य **गुणेष्वाविष्टचित्तानां** तेषां संसारः पूर्वोक्तस्तत्यागजनितक्लेशश्च तौ न स्याताम्. तेषां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं गुणगानाविष्टत्वेन पूर्वोक्ताध्यास एव नश्यति, कुतस्तत्यागजक्लेशसम्भावनेति भावः. एतदेवोक्तं वेणुगीते "क्रीडास्तन्मयतां ययु"रित्यस्य विवरणे "जाग्रत्स्वप्नेषु क्रीडामेव पश्यन्ती"ति. ननु तथापि पूर्ववद्विषयभोगेष्वेव तेषामासक्त्या तत्सुखमपि पूर्वोक्तविषयजन्यसुखसदृशमेवेति चेत्, तत्राहुः **हरिवदिति**. पूर्वोक्तभोगासक्त्या संसार एव. अत्र तु हरिर्यथा सर्वदुःखहर्ता नित्यालौकिकरसात्मकानन्दरूपश्च, तथा तस्य सुखमप्यग्रे दुःखसम्भावनारहितं संसारनिवर्तकं तादृशमेव न तु पूर्वसदृशं

भवतीति महद्वैलक्षण्यमुक्तम्।।१३।।

एवं सर्वेषां विषयवासनारहितदृढासक्तौ यद्भवेत्तदाहुः **तदे**ति.

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति।।१४।।

एवं प्रचुरतापात्मकभावासक्त्या सकलेन्द्रियाणां प्रपञ्चाध्यासरहितः पूर्णो निरोधः स्वरूपात्मकतारूपो यदा सिध्येत्**तदा दयालुत्वं प्रभोर्भवेत्**, स्वास्थादिकरणेन प्रतिबन्धको न भवेदित्यर्थः. **अन्यथा** तादृशासक्त्यभावे क्रूरता निश्चिता. साक्षात्स्वीयत्वानाङ्गीकृतस्य स्वधर्मरूपभगवदभिप्रेताकरणे प्रभोराक्रोशो भवतीत्यपि क्रूरपदेन सूचितम्. ननु सर्वत्यागेन गुणगानमात्रप्रवृत्तौ कालकर्मादिककृतबाधः सम्भवेत्तत्राहुः बाधशङ्केति. **बाधस्य** शङ्कापि नास्ति. कुतो बाधः **अत्र** गुणगान इत्यर्थः. सकलेन्द्रियेषु भगवत एवाविष्टत्वेन स्थिततत्वाद्बाधः केन कर्तुं शक्यः स्वयमपि भगवान् न शक्नोति, तदा कोन्य इति नैव शङ्कोदयः. एतदेवोक्तं सन्न्यासनिर्णये ‘‘अत्रारम्भे न नाशः स्या’’दित्युपक्रम्य ‘हरिरत्रे’त्यन्तम्. अत्रेति कथनात् तत्तज्ज्ञानमार्गीयसाधनेषु बहवो विघ्नाः सन्तीत्यपि ज्ञाप्यते. ननु तथापि स्वरूपमिलनाभिलाषस्य विद्यमानत्वात् स्वस्य भगवता सह भेदज्ञानं तिष्ठत्येव, तच्च तदभिमानेन सम्भवति, स च बाधरूप एवेति चेत्तत्राहुः **तदध्यास** इति. यथाज्ञाने‘सोह’मिति स्फुरति, तथा स्वस्मिन् सर्वत्र देहादौ तस्य भगवत एवाध्यासः, तद्रूपत्वेनैव भानं ‘कृष्णोह’मित्यादिरूपः सिध्यति, न तु स्वस्मिन् भिन्नत्वं स्फुरति. सिध्यति सिद्धिं प्राप्नोतीत्युक्तया यथा संसारावस्थायां तादृशाध्यासः स्थितः, तथेदानीन्तनावस्थायां सत्यां साक्षाद्भगवत्स्वरूपाध्यास एव भवतीति स्वभावपरावृत्तिर्जायत इति सूच्यते. एतदेव ‘तन्मनस्का’ इत्यस्य विवरणे द्रष्टव्यम्।।१४।।

ननु तथापि वैराग्याभावे कथं पूर्वोक्तप्राकृतविषयाध्यासनिवृत्तिस्तत्राहुःभगवद्धर्मेति.

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थितः।
गुणैर्हरेः सुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्।।१५।।

---

१ भक्ताविति पाठः. २ भगवद्विषयभोगे इति पाठः.

भगवतः सकलैश्वर्यादिगुणयुक्तस्य **धर्माः** गुणगानद्वारान्तःप्रविष्टास्तेषां **सामर्थ्याद्विषये** प्राकृते तद्भावत्वेन भगवत्यपि वा तादृशस्य **विरागः स्थितोस्ति**. **स्थिर** इति वा पाठः. विषयत्वेन सर्वत्र वैराग्यमेव, किन्तु तेषां पराकाष्ठापन्नालौकिकानन्दरूपे साक्षाद्भगवति निरुपधिस्नेहन केवलतदीयत्वबुद्ध्यैव तथा प्रपन्नतेति 'सन्त्यज्य सर्वविषया'निति निरुपणेन ज्ञायते. अत एव भगवानपि स्वयं कृपया तादृशानन्दमनुभावयतीति सर्वमवदातम्. तर्हि दुःखं कथं भवति? तत्राहुः **गुणैरि**ति. **हरेः** सर्वदुःखहर्तुर्गुणैः **सुखस्पर्शान्न** कर्हिचिद्दुःखभानम्. तेषामन्तस्तत्स्वरूपानन्दपूर्णानां सर्वदा तदात्मकतया दुःखस्य भानमेव नास्ति, कुतस्तत्सम्भावनेति भावः. तापात्मकं यद् दुःखं दृश्यते तस्य रसरूपत्वात् सुखरूपत्वमेव, न दुःखरूपत्वमिति ज्ञेयम्।।१५।।

अतःपरमुपसंहरन्ति एवं **ज्ञात्वे**ति.

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः।।१६।।

साक्षाद्भगवदानन्दस्य सर्वेन्द्रियास्वाद्यत्वनिरूपणेन तत्साधनरूपगुणगानस्य सुखरूपत्वेन च ज्ञानफलस्याक्षरलयपर्यवसायित्वात् तत्साधनस्य च कष्टसाध्यत्वाच्च ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने महोत्कर्ष इति ज्ञात्वा निरुद्धैः साक्षाद्भगवद्भावरूपाङ्गीकारादारभ्य सर्वपरित्यागेन **गुणा** एव **वर्णनीयाः** न त्वन्यत्. दृढासक्त्यनन्तरं तत्स्वभावात् स्वयमेव गुणगानं भविष्यति, साम्प्रतं तदभावादत्र कर्तव्यविधिरुक्त इति सर्वमनवद्यम्. तत्प्रतिबन्धकरूपमान्तरं दोषद्वयं सर्वथा त्याज्यमित्याहुः **अमत्सरैरि**ति. मात्सर्यं परोत्कर्षासहनं लोभश्च तद्रहितैः कर्तव्यम्. भगवदीयेषु मात्सर्येण सौहार्दाभावे गुणवर्णनमशक्यम्, लोभे तु स्वार्थार्थमेवेति कुतस्तदावेशः प्रत्युत सर्वथानुचितत्वाद्भगवद्भक्तानां सर्वस्वहानिरेवेति सर्वथा दोषद्वयं त्यक्तव्यमिति भावः. **सदेति** कायान्तरव्यासङ्गे भावशैथिल्याभावायोक्तम्।।१६।।

ननु श्रीमुखावलोकनादीनां भावजनकत्वेन सर्वदा भगवत्स्वरूपसेवैव कर्तव्येति भक्तिसिद्धान्तः, प्रकृते मुख्यतया गुणगानमेवोच्यते तत्कथमित्याशङ्क्य तत्राहुः **हरिमूर्तिरि**ति.

हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तता कृतिगती सदा।।१७।।
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।

वायुर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत्।।१८।।

अत्रेदं प्रतिभाति. भगवानुद्धारार्थं मर्यादया सर्वानेवाङ्गीकरोति. तेषां स्नेहरूपामानसी सेवा फलरूपेति तत्साधनत्वेन मार्गनिष्ठया सेवाकरणमावश्यकम्. येषां साक्षात्पुष्टिमार्गे निःसाधन एवाङ्गीकारस्तेषां तदात्व एवोद्भूतस्नेहभावाङ्कुराणां स्वरूपसम्बन्धाभिलाषेण "भगवता सह संलाप" इत्यादिरूपा भावनैव जायते, भावना तु मनोधर्मः, तद्भावनायां मनसस्तत्परता भवतीति तद्रूपा मानसी सेवा जायते इति पूर्वोक्तसेवाया अधुना प्रयोजकत्वाभावात्तद्दार्ढ्यार्थं गुणगानमेव मुख्यमिति तदेवोक्तम्. अत एव भगवद्वरणानन्तरमेवोद्भूतभावाभिः कुमारिकाभिः पूजादि सर्वं विहाय गुणगानमेव कृतमिति "भूयान्नन्दसुतः पति"रित्यत्र विवरणे विवृतम्, साधनमार्गीयशरणागतानामपि साधनरूपसेवाकरणेन स्नेहानन्तरभावोत्पत्तौ गुणगानद्वारा तद्दार्ढ्यार्थं त्याग एवोक्तो भक्तिवर्धिन्यां 'तादृशस्यापी'त्यारभ्य "त्यागं कृत्वे"तीति सर्वमनवद्यम्. किञ्च पूर्वोक्तसाधनरूपसेवाकरणेन स्नेहभावजनितं तापात्मकं दुःखं जायते, तद्दुःखनिवृत्तिस्तु विरहानुभवे गुणगानेनैव भवतीति तदेव मुख्यत्वेनोक्तम्. तथा च यतस्तादृशपुष्टिमार्गाङ्गीकारस्वभावोद्भूतस्नेहभावाङ्कुरजनितमनोरथप्रकारेण **हरिमूर्तिः सदा ध्येया** भावयितुं योग्या भवति, अतस्तज्जनिततापनिवृत्यर्थं तद्दार्ढ्यार्थं च गुणगानमेवोक्तमित्यन्वयः. तर्हि ज्ञानमार्गेपि ध्यानमेव क्रियते, ततो गुणगाने को विशेषस्तत्राहुः सङ्कल्पादिति. सङ्कल्पात्पूर्वोक्तप्रकारकविविधमनोरथकदम्बादपि तत्र भावनायां भावात्मकतया साक्षात्प्रकटस्य भगवतो **दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टम**नुभूतं भवति, तथैव **कृति**स्तदन्तिके **गति**श्च, तथैव **श्रवणं** तत्कूजितानां, **कीर्तनं** भगवता सह संलापादिरूपं च तथा. पूर्वोक्तज्ञानसाधनध्याने तु न तथेति स्पष्टमित्युक्तम्. तत्र तु प्रत्यक्षेपि आत्मनि न तथानुभवः. गाने तु सङ्कल्पमात्रादपि स्पष्टमनुभूतं भवतीत्यपिशब्देन द्योत्यते. एवं भावनायां प्रकटीभूय तापात्मकं दुःखं हरतीति ज्ञापनाय **हरिमूर्ति**रित्युक्तम्. ननु भगवदङ्गीकारेण तत्कृपया एतत्सर्वं भवेदिति "कृपायुक्तो यदा भवे"दित्यनेनोक्तम्, परन्तु तत्र भगवत्कृपायां महत्कृपा पूर्वं हेतुत्वेनोक्ता 'महतां कृपये'त्यनेनेत्यस्य तदधीनत्वेन तत्कृपाभावे स कथं प्राप्येतेत्यत आहुः **पुत्र** इति. यतः पूर्वोक्तभक्तास्तु पराकाष्ठापन्नरसभोक्तारो मात्सर्यादिदोषरहिता भगवत्कृपाविषयेषु सहजवत्सलशीला इति तेषां तादृशे **कृष्णप्रिये** कृष्णः प्रियो यस्य कृष्णस्य फलदानसंमुखस्य प्रिये वा **पुत्रे** पुत्ररूपे **रतिः** प्रीतिरेव भवति. स्वप्रियप्रीतिहेतुत्वेन कृपया भावदानात्तेषां गुरुत्वात्तस्मिन् पुत्रत्वं सिद्धमेवेति तद्रूपत्वमुक्तम्. तासां गुरुत्वं तु सन्न्यासनिर्णये "कौण्डिन्यो गोपिका" इति स्फुटीकृतम्. किञ्च यथा पुत्रस्य कामप्यार्तिं दृष्ट्वा तस्मिन् वात्सल्येन तदुपचारः

क्रियते, तथात्रापि तादृशीमार्तिं दृष्ट्वा वात्सल्येन तद्दानं तैरपि क्रियत इति ज्ञापनाय पुत्ररूप इत्युक्तम्. अन्यच्च, पुत्रे यथा तद्विहितविविधापराधादपि वत्सलतैव भवति, तथा तादृशे कृपापात्रे प्रीतिहेतोरपि तथोक्तम्. प्रीतिरपि तेषां भावात्मिकैव भवति, न तु तद्रहितेति ज्ञापनाय रतिपदमुक्तम्. रतिर्हासश्चेति तद्रूपत्वं तस्याः स्पष्टम्. एवं सति तेषामपि कृपा तादृशे जायते इति स रसोपि तेन प्राप्यत इति सुष्ठूक्तं तथा. किञ्च यथा तादृशानां तादृशे भक्ते पुत्रभावस्तथा तस्यापि तादृशेषु भक्तेषु सर्वदा मातृभाव एव स्थापनीय इत्यपि सूचितम्. अथवाऽत्रायमपि गूढाभिसन्दिरनुमीयते. कृष्णप्रियास्तु बहुविधाः, परन्तु स्फुरत्कृष्णप्रेमेति श्लोकोक्तरूपं कृष्णस्यानन्दरसात्मकस्य प्रियत्वं श्रीमाचार्येष्वेव विलसति नान्येषु तद्धेतुकं साक्षात् श्रीस्वामिनीनामपि प्रियत्वं तन्मध्यपातित्वं च विजयते. तथा च कृष्णस्य प्रिये वल्लभे मयि पुत्र इव रतिस्तेषां वर्तत इति मदङ्गीकृतेन्यस्मिन्नपि तादृशे भविष्यतीति भावः. अथवा कृष्णप्रिये मयि रतिर्वर्तत इति कथनात् स्वस्य तद्भावात्मकत्वात्तदन्तर्गतत्वाच्चाधुनिकानां स्वकृपयैव भविष्यतीत्यपि सूचितम्. एवं तत्कृपया जनितो रतिरूपो भावो निखिलं प्राकृतांशं त्याजयित्वा क्रमेणालौकिकं साक्षाद्भगवदात्मकं तत्तद्विषयमिन्द्रियेषु योजयतीति स दृष्टान्तं निरूपयन्ति **वायु**रिति. **वायुः** सर्वदेहेन्द्रियव्यापी भुक्तमात्रनिखिलवस्तूनां यो मलांशस्तस्य त्यागेनाधोद्वारेण बहिरुत्सर्गेण शेषभावं सारांशं तनौ नाडीद्वारा तत्तदधिष्ठाने यथा प्रापयति तथायमपि प्राकृतांशं त्याजयित्वा **शेषभावं** सर्वं भगवति नयेदित्यन्वयः. **तना**वित्युपलक्षम्, किन्तु देहप्राणेन्द्रियादिष्वित्यर्थः. अथवा ज्ञानमार्गीयस्य योगादिधारणायां प्राणायामादिकरणेन सकलेन्द्रियाणां तत्तत्प्राकृतविषयग्रहणादिरूपं मलांशं त्याजयित्वा वायुः शेषभावभूतं प्राकृततद्भिन्नीभूतं आत्मानं तानि च परमात्मनि यथा योजयति तथात्रापि स भाव इति ज्ञेयम्. **भाग**मिति पाठे स्पष्टमेव. अथवा वायुर्यथा कलुषितजलानां यो मलांशस्तन्मध्यस्थः पङ्कस्तस्य त्यागेन शेषभागं मलांशावशिष्टं जलं तनौ स्वस्मिन्नयति शोषणद्वारा गृह्णाति, तथा सा भावोपि प्राकृतांशत्यागेन **शेषभागं** सर्वं **तनौ** स्वदेहादिरूपे प्रभौ प्रापयेत्, तदात्मको भवतीति भावः. अथवा **तनौ** स्वतनौ यत्सर्वं शेषभागं तनुव्यतिरिक्तं मनःप्रभृति तत् सकलं **नयेत्,** हरिं प्रापयेत्, एतत्स्वरूपात्मको भवतीति पूर्ववत्. एवं पूर्णो निरोधः सिद्धो भवति।।१७, १८।।

---

१ प्रियत्वमिति पाठः

ननु तद्भावस्वभावात्स्वत एव भविष्यतीति कर्तव्यविधिः किमर्थमुच्यते? तत्राहुः **यस्यवेति.**

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः।।१९।।

वेत्यनादरे. यद्यपि तद्भावस्वभावादेव तादृशस्य सर्वं भवति, तथापि लौकिकजनानुरोधेन **यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं** भगवदावेशेन तत्कृतिरिव कृतिर्यदा **स्पष्टं** प्रकटं **न दृश्यते तदा** लौकिकसर्वपरित्यागेन पूर्वोक्तैः भगवदीयैः सह गुणगानेन तस्येन्द्रियस्य **विनिग्रहोन्यतः** प्रत्यावर्त्य स्वरूपग्रहणैकस्वभाव एव कर्तव्य इत्येतदर्थं कर्तव्यविधिरुक्त इति निश्चयो ज्ञेय इत्यर्थः।।१९।।

एवं पूर्णं निरोधस्वरूपं निरूप्य तत्साधकत्वाद्गुणगानस्य सर्वोत्कृष्टत्वमाहुः **नातः परतर** इति.

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्मपरम्।।२०।।

मन्त्रस्तवविद्यातीर्थादीनां लोकवेदोक्तफलप्रापकत्वाल्लोके वेदे च महत्वं भवतु, न तु तदतिरिक्ते. गुणगानस्य तदतीतफल प्रापकत्वात्तदतीत सर्वोत्कृष्टत्वमपीत्येतज्ज्ञापनार्थं फलस्तुतिरुक्ता. यद्यपि मन्त्रादिद्वारा चित्तशुद्ध्या निग्रहादिकं भवति, तथापि महता क्लेशेन, तत्राप्येतदपेक्षया फलं स्वल्पतरं, गानद्वारा निग्रहादिकमपि सुखेन भवति, फलमपि महत्, सर्वोत्कृष्टमिति गुणगानस्यैव सर्वातिशयवत्वं निरूपितम्।।२०।।

श्रीमदाचार्यचरणसरोजसततस्मृतेः।
ममार्थावगतिर्जाता दुर्बोधेप्यत्र निश्चितम्।।१।।
तेन सङ्गतमेवाहं मन्येत्र तदपि स्वतः।
संशोधयन्तु सुधियः कृपया मयि वत्सलाः।।२।।
अहर्निशंविचारेस्मिन्नेवं तिष्ठति यन्मनः।
अतो हि लिखने नूनं प्रवृत्तिर्मे न चान्यथा।।३।।
श्रीविठ्ठलेश्वरपदाम्बुजरेणुरेव सर्वस्वमित्यनिशमस्तु ममाभिलाषः।
यत्स्पर्शतः सपदि दैवजने स्वतः श्रीवैश्वानरोक्तपदवी फलिताखिला स्यात्।।४।।

इतिश्रीनिरोधलक्षणविवरणं श्रीवल्लभकृतं समाप्तम्।।

श्रीकृष्णाय नमः।

निरोधलक्षणम्।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतम्।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् स्वीयेषु करुणावतः।निरोधलक्षणग्रन्थं तद्दासश्चिन्तयत्ययम्।।१।।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सन्न्यासनिर्णये भक्तिमार्गीयत्यागस्य विरहानुभवार्थं कर्तव्यतां गुरुद्वयकथनभिन्नकालफलबोधनाभ्यामधिकारिभेदं च सूचयित्वा, तस्य त्यागस्य प्रेमैकसाध्यत्वं, तत्र साधनाकाङ्क्षायां भावनासिद्धस्य भावमात्रस्यैव साधनत्वं, ततो विलक्षणाधिकारे गुणानां जीवनहेतुत्वं चोक्तवन्तः. तत्र कीदृशस्याधिकारिणः कीदृश्या भावनया जातः कीदृशो भावः साधनतां प्राप्नोति, गुणाश्च तत्र बाधकत्वेनोक्ता अपि कीदृशाधिकारे केन प्रकारेण जीवनहेतुतया साधकत्वं प्राप्नुवन्तीत्याकाङ्क्षोत्पद्यते. किञ्च भक्तिवर्धिन्यां जातभक्तिदृढबीजभावस्य भगवदुक्तस्वविचारितरीत्या भजमानस्य भक्तिप्रवृद्ध्यर्थं गृहत्यागपूर्वकश्रवणकीर्तनरूपं साधनमुक्तवन्तः. अदृढबीजभावस्य तु गृहे स्थित्वा पूजाश्रवणादिभिः स्नेहासक्तिव्यसनपर्यन्तमुपायं तेन कृतार्थतां चोक्त्वा, अग्रे त्यागकरणादेरावश्यकत्वमुक्तवन्तः तत्रापि भक्तिवृद्धेः किं स्वरूपमित्याकाङ्क्षोत्पद्यते. तथा सेवाफलविवरणे चाद्यफलाभावे सेवाया अनाधिदैविकीत्वं हेतुत्वेनोक्तवन्तः. तत्रापि सेवाया आधिदैविकीत्वं कथं स्यादित्याकाङ्क्षोत्पद्यते. एवं तत्र तत्राकाङ्क्षोत्पत्तौ तत्रत्यास्या आकाङ्क्षाः पूरयितुं यथा भगवानवतारदशायां भक्तदृग्गोचराभिर्गुणलीलाभिः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकस्वासक्तिरूपं निरोधं क्रमेण विदधानो जीवानुद्धरति, तथेदानीमनवतारदशायामपि श्रवणकीर्तनादिगोचराभिर्गुणलीलाभिरेव क्रमेण निरुन्धानो जीवानुद्धरतीति बोधनाय त्यागपूर्वकं श्रवणजन्यभावनया भजता, त्यागपूर्वकं कीर्तनेन भजता, गृहे स्थित्वा पूजादिना च भजता, यथाधिकारं भक्तिप्रवृद्ध्यात्मकपूर्वोक्तनिरोधार्थं यतमानेन भाव्यम्. तत्रापि त्यागपूर्वकं श्रवणजन्यभावनया भजता कृपा परीक्षणीया, गुणाश्च गातव्याः, स्वावस्था च परीक्षणीया स्वाधिकारानुसारेण स्वस्मिन् निरोधोत्पत्तिराशंसाविशेषैः परीक्षणीया, गुणाश्च गातव्याः, स्वावस्था च परीक्षणीया, स्वाधिकारानुसारेण स्वस्मिन् निरोधोत्पत्तिराशंसाविशेषैः परीक्षणीया. कीर्तनेन भजता तु कीर्तनजन्यसुखविशेषैर्भक्तिवृद्धिः परीक्षणीया, कृपा च परीक्षणीया. गेहे स्थित्वा

---

१ तनुवित्तजयोस्तु भावनाप्रधानत्वमिति भावः. आधिदैविकी सेवा प्रेमद्वारा त्यागसाधिकेति. २ सन्न्यासाश्रम उक्त्वा गृहस्थाश्रम आहुः. ३ त्यागसन्न्यासयोर्भेदो गीतायाम्. ४ तथा फलस्य प्रवर्तकत्वात् तत्राहुः. ५ज्ञानत्वेन कृपात्वेन कार्यकारणभावः.

भजता तु सेवाया आधिदैविकीत्वाय श्रवणकीर्तनध्यानान्यभीक्ष्णं विधेयानीत्युपदेष्टुं निरोधलक्षणग्रन्थमारभन्ते.

नन्वस्य ग्रन्थस्य सन्न्यासनिर्णयादिशेषत्वेन विचारे किं बीजमिति चेत्? उच्यते. अत्र ग्रन्थकरणप्रतिज्ञाऽभावेन यत्किञ्चित् साकाङ्क्षत्वे निश्चिते, सन्न्यासनिर्णयस्थभावनादेः स्वरूपाकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, गुणानां जीवनहेतुत्वकथनस्य च प्रकाराकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, भक्तिवर्धिनीस्थभक्तिवृद्धिपदस्य च स्वाभिधेयस्वरूपाकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, सेवाफलविवरणस्थानाधिदैविकीपदस्य चाधिदैविकीकथंभावाकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, अत्रत्याशंसागुणकीर्तनादिकथनस्य चाकस्मिकतया कैमर्थ्याकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, परस्पराकाङ्क्षापूरकत्वं दयालुत्वादिशब्दानां तत्रत्यप्रमेयस्यापि प्रत्यभिज्ञानं चेति जानीहि. न च भक्तिवर्धिनीस्थपदप्रत्यभिज्ञाऽभावात् तच्छेषत्वाभावः शङ्क्यः. सन्न्यासनिर्णयप्रमेयेणैव तत्प्रमेयस्यापि क्रोडीकरणाददोषात्. परस्पराकाङ्क्षावशादेव श्रीहरिरायैरपि ''श्रीकृष्णरसविक्षिप्ते''त्यादिश्लोकपञ्चकस्य स्वतन्त्रत्वेन प्रतीयमानस्यापि जलभेदशेषत्वमङ्गीकृतम्. तस्मादेवं शेषत्वैकवाक्यत्वयोरङ्गीकारे न किञ्चिद्बाधकमिति तच्छेषत्वेन व्याख्यायते. तत्र सन्न्यासनिर्णये त्यागिनो भावनामात्रसिद्धभावस्यैव साधनत्वेन साधितत्वात्, त्यागिषु प्रथमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहविषयकानुभवार्थत्वात्, विरहस्य च प्राकट्यतिरोभावजनितदुःखात्मकत्वात्, तादृशस्याधिकारिणः कृष्णे आसक्त्या गृहस्थानां बाधकत्वानात्मत्वयोर्भासने कृते, ईषत्प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वतया भगवदासक्तौ जातत्वे, व्यसनेन च भगवद्गुणलीलाप्राधान्यं विहाय भगवत्स्वरूपपरतायां जातायां, दैन्यै सति जन्मप्रकरणोक्तरीत्या भक्तदुःखस्यैव भगवत्प्रादुर्भावहेतुत्वज्ञानात्, तादृशदुःखाशंसैवोत्पद्यत इति. तत्र तादृशदुःखजनकातिशयस्यैव भक्तिवृद्धिरूपत्वं, प्रपञ्चविस्मृतिभगवदासक्त्योराधिक्यात्. अतः तादृशनिरोधस्य प्रस्तूयमानदुःखाशंसारूपं तद्भावनारूपं च कार्यलक्षणमिति प्रथमं तदाहुः यच्चयेत्यादि.

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्।।१।।

अत्र दुःखाधारभूतानां त्रयाणां कथनेन तेषां भावत्रैविध्यं द्योतितम्. चकारत्रयेण तत्तत्सजातीयभाववन्तः कंसादेः कालतोऽज्ञानाच्च दुःखभाजः सङ्गृहीताः. तदानीं कंसादिवदिदानीमप्यसुरान्तराणां सम्भवात्. कालाज्ञानयोरपि सम्भवाच्च. क्वचिदिति अनिर्णीतदेशविशेषोक्त्या तत्र तत्र भगवद्देशेषु पर्यटिततृत्वसूचनेनाधिकारिण

स्त्यागित्वं बोधितम्. एवमग्रेपि ज्ञेयम्. तथा च ये बालादिभावे, ये च पौगण्डादिभावे, ये च प्रौढादिभावे आसक्ताः, तेषां दुःखं दृष्ट्वा तन्निवृत्यर्थं तादृशतादृशरूपेणैव भगवान् तत्तद्भावानुसृतं सुखं दातुं प्रकटीभवतीति भगवत्प्राकट्ये तादृशं दुःखमेव साधनमिति स्वस्मिन् तदाशंसोत्पादको यः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपो निरोधः स एव कृष्णे व्यसनस्य फलम्. तदाशंसैव प्रथमाधिकारिणो भक्तिवृद्धिलक्षणमित्यर्थः. अत्र स्यादित्याशंसासूचकम्. यदपि आशंसावचने लिङिति सूत्रेण आशंसावाचिन्युपपद एव लिङ् विहितस्तथापि लोक उपपदाभावेपि देवदत्तश्चेदागच्छेद् मत्कार्यं भवेदित्यादिप्रयोगदर्शनान्न दोषः. यदि च लोकोक्तिर्न प्रमाणमिति प्रार्थनायां वा सम्भावनायां वा लिङिष्यते, तदापि तयोराशंसामूलकत्वादाशंसा न व्यभिचरति, तस्माददोषः।।१।।

अथ मध्यमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहसामयिकासक्तिभ्रमन्यायक भगवदनुभवार्थत्वात् तस्य भक्तिवृद्धिस्वरूपं तादृशनिरोधलक्षणकथनमुखेनाहुः **गोकुल** इत्यादि.

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति।।२।।

'तु'शब्दः पूर्वव्यावृत्यर्थः. एषोत्यन्तं विप्रयोगेण दुःखित इति रसप्रधान इति प्राकट्यजनिका अत्यन्तासक्तिरेव तस्य भक्तिवृद्धिरिति यथाकथञ्चित् दर्शनजन्यसुखाकाङ्क्षारूपं कार्यं तद्भक्तिवृद्ध्यात्मकनिरोधलक्षणमिति ज्ञापनाय पूर्वं **गोपिकापदोक्तिः**. अन्येषां तद्वत् सर्वात्मभावाभावेन ततो न्यूनत्वात् पश्चादुक्तिः. किंशब्दो विकल्पं **द्योतय**ति. "विकल्पे किं किमूत चे"ति कोशात्. आशंसायां भविष्यत्काले लृट्।।२।।

अथोत्तमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहानन्तरभाविसाक्षात्कारार्थत्वात् तस्य तत्साक्षात्कारोत्तरं यदा पुनर्व्रजस्थानामिव विरहस्तदा तस्य पूर्वानुभूतस्य लीलासुकादिस्मरणसंवलितविरहसामयिकानुभववत्वात् तदा भगवतः स्वस्मरणोत्पादको निरोध एव तस्य भक्तिवृद्धिरूप इति तस्य स्वस्मिंस्तदभिज्ञापकं लक्षणमाहुः उद्धवेत्यादि.

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्।।३।।

अत्रापि पूर्वश्लोकोक्ता स्यादिति क्रिया अनुषज्जते. तथा च

तादृशस्मरणोत्सवादिविषयिणी आशंसैव स्वस्मिंस्तादृशभक्तिवृद्धिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः.

अत्र त्रिष्वपि श्लोकेषु गोकुलपदोक्त्या पूर्वोक्तरीतिको भावः श्रीव्रजनाथस्वरूपासक्तानामेव विवक्षितः, नान्यस्वरूपासक्तानामिति ज्ञापितम्. ते एव परमानुग्रहविषया इति च. तृतीये वृन्दावनपदोक्तिस्तु तेष्वपि आधिक्यज्ञापनार्थेति बोध्यम्. तेनैतादृशपुष्टिमार्गीयविषयक एवायं विचारः, न तु सर्वसाधारण इत्यपि बोधितम्. चाचामते त्वत्र श्लोकत्रये सुबोधिन्याद्युक्तस्य निरोधस्यावश्यंभावसूचको मनोरथ एवोच्यते. श्रीहरिरायाणां मते तु निरोधनिमित्तकारणभूतयोर्भावनगुणगानयोर्मध्ये प्रथमं भावनमुच्यते, तच्च दुर्लभत्वबोधनाय स्वविषयकतया प्रार्थनारूपेणोच्यते. मन्मते त्विदमाशंसात्रयं भक्तिवृद्धिज्ञापकलक्षणतयैवोच्यत इति ततो भेद इति ज्ञेयम्।।३।।

एवं त्यागिषु ये श्रवणजन्यभावनामात्रपरास्तेषां भक्तिवृद्धिरूपं भावनात्मकं निरोधमाशंसारूपकार्यमुखेनाभिज्ञानार्थमुक्त्वा, ये त्यागिषु ततोऽधिका गुणगानासक्तास्तेषां भक्तिवृद्ध्यात्मकनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणं त्रिभिर्वदन्त प्रथमं गुणगातृषु प्रथमाधिकारिणः स्वस्मिंस्तदभिज्ञापकं लक्षणमाहुः **महतां कृपयेत्यादि**.

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि।।४।।

अत्र **यावदिति** पदमुत्तरावधिज्ञापकं **तावत्पदं** च पूर्वावधेः. **महत्पदं** च पारोक्ष्येण व्रजभक्तज्ञापकम्. तथा च तासां **कृपया भगवान् यावद्दययिष्यति** वक्ष्यमाणरीतिकस्वैकतानत्वसम्पादिकां दयां करिष्यति **तावत्** ततः पूर्वं **कीर्त्यमानः** 'नामान्यनन्तस्ये'त्युक्तरीत्या स्मरणपूर्वकं वर्ण्यमानः **आनन्दसन्दोहः** श्रीमद्वृन्दावनेन्दुप्रकटितरसिकानन्दस्य यः समूहः लीलारूपः हि निश्चयेन **सुखाय** भवतीति शेषः. अतस्तस्य कीर्त्यमानलीलया सुखजननं व्यसनोत्कर्षरूपस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणम्. हतत्रपत्वेन प्रपञ्चविस्मृत्याधिक्यादित्यर्थः।।४।।

अथैवङ्कर्तुः पूर्वदशात आधिक्यं कीर्तनपरता च पूर्वोक्तमहत्कृपयाधिका भवतीति तादृशनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमाहुः महतां कृपया यद्वदित्यादि.

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्।।५।।

महतां पूर्वोक्तानां **कृपया यद्वद्** यथा कीर्तनं लौकिकस्याग्रे निषेध्यत्वात् भक्तकृतं लीलाविषयकं **कीर्तनं सदा सुखदं तथा लौकिकानां न लौकिककर्तृकं** लौकिकविषयकं च कीर्तनं न, सुखदं न. अत्रापि भवतीति शेषः. तत्र दृष्टान्तः. **स्निग्धभोजनरूक्षवदिति**. स्निग्धं भोजनं यस्यासौ स्निग्धभोजनः, स्निग्धभोजनस्य रूक्षेण तुल्यं भवतीति स्निग्धभोजनरूक्षवत्. तथा च लौकिककर्तृके तद्विषयके च कीर्तने असुखदत्वभानपूर्वकमलौकिकविषयके भक्तकृते कीर्तने यत्सुखदत्वं “कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना, विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद् भक्त्या विनाशय” इत्युक्तधर्मैर्ज्ञायमानं यत्सुखदत्वं तदेव पूर्वस्मादुत्कृष्टस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः।।५।।

अथ ततोप्युत्कृष्टाधिकारे पूर्वस्मादधिकस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमाहुः **गुणगान** इत्यादि.

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः।।६।।

‘महतां कृपये’ति पदद्वयमत्राप्यनुषज्जते. अतो महतां कृपया **गोविन्दस्य गुणगाने रागानुसारेण** भगवद्गुणोपबन्धयुक्तपदवाक्यानां कीर्तने **सुखावाप्तिर्यथा** येन प्रकारेण **प्रजायते** प्रकर्षाज्जायते, **तथा** तेन प्रकारेण **शुकादीनां** ज्ञानिभक्तानाम् आत्मनि हृदये न, **अन्यतः कुतः**. ज्ञानभक्तिभ्यामेव चेन्न भवति तदा तदतिरिक्ताद्धेतोः कुतः स्यादित्यर्थः कैमुतिकेनोक्तः. तथा च भगवद्गुणगाने तादृशसुखावाप्तिः पूर्वस्मादुत्कृष्टस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः. एवं च त्यागकर्तृणां मध्ये कीर्तयितृषु गुणगातृषु च महत्कृपा हेतुत्वेनापेक्षितेति बोधितम्।।६।।

सा कृपा तत्कार्यभूतं गुणकीर्तनादिजन्यं सुखं च कथं स्यादित्यपेक्षायां तत्र भगवत्कृपारूपं हेतुं प्रकारभेदेनाहुः **क्लिश्यमानानित्यादि.**

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः।।७।।

जनान् जननधर्मवतः स्वकीयान् **क्लिश्यमानान्** स्वप्राप्त्यर्थं दुःखितान् **दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत्** अत्यनुग्रहं कुर्यात् **तदा हृदिस्थं सर्वं सदानन्दं बहिर्निर्गतं** भवेत्. पूर्वार्धोक्ता भवनक्रियाऽत्राप्यनुषज्जते. तथा च कीर्तियितृणां भगवद्दयया भावनाप्राबल्ये दहरविद्योक्तस्येव सर्वस्यान्तरस्य बहिःप्राकट्येन महतामपि प्राकट्यात्

तत्कृपया स निरोधः फलमुपदधातीत्यर्थः. तेनेदमपि फलोपधायकस्य निरोधस्यैव लक्षणम्।।७।।

अतः परं कीर्तयितृषु ततो विशेषं वक्तुं तथा तमाहुः **सर्वे**त्यादि.

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्।।८।।

उक्तरीत्या सर्वस्य सदानन्दरूपस्य बहिः प्राकट्ये जाता या सदानन्दता, तेन सर्वानन्दप्रचुरस्यापि कृपाजनितो य आनन्दः सः सुतरां दुर्लभः. कुत इत्याकाङ्क्षायां तस्य भगवद्दानहेतुकत्वं स्फुटीकुर्वन्ति **हृद्गत** इत्यादि. हृदि स्थितो भगवान् कीर्त्यमानान् स्वगुणान् श्रुत्वा **पूर्णः** बहुधा निविष्टः, कृपापदस्य पूर्वमुक्तत्वात् कृपया वा **पूर्णः** सन् **जनान्** स्वकीयान् प्लावयते अन्तर्बही रसव्याप्तान् करोति. अत्र श्रुत्वेति पदाद्गुणानां कीर्त्यमानत्वमार्थिकम्. तथा च तेषु कृपया जनितो यो भगवदानन्दः तेन तद्भवति, नान्यत इत्यतो दुर्लभ इत्यर्थः. अत इदं फलात्मकस्य निरोधस्य लक्षणम्. एवं च भक्तिवृद्धेः स्वरूपमत्र **पर्याप्नोति**. तेन पूर्वोक्तेषु त्यागकर्तृषु साधनांशतौल्येपि ''छन्दत उभयाविरोधा''दिति न्यायेन यत्र भगवतस्तत्कर्तृकस्वगुणगानकीर्तनयोः श्रवणेच्छा तेषां गुणगानादौ प्रवृत्तिः, यत्र च सा न तेषां भावनामात्र एव प्रवृत्तिरिति मुख्याधिकारिषु व्यवस्था बोध्या. एतेने कृपापरीक्षणप्रकार उक्तः।।८।।

एवं नानाविधस्य निरोधस्य लक्षणान्युक्त्वा तत्र साधनमुपदिशन्ति तस्मादित्यादि.

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः।।९।।

यस्माद्भावनापेक्षयापि भगवान् गुणगानेन अधिकं प्रसीदति **तस्मात् सर्वं परित्यज्य भक्तिमार्गरीत्या** प्रेम्णा सर्वं गृहादिकं सवासनं त्यक्त्वा **निरुद्धैः** प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तियुक्तैः **सदानन्दपरैः** हृदयस्थलीलासृष्ट्यैकतानैः **सर्वदा** अभीक्ष्णं कालाविच्छेदेन वा **गुणाः गेयाः** गानविषयीकार्याः. तत्रावान्तरफलमाहुः **सच्चिदानन्दतास्वत इति**. स्वतो यदृच्छातः गुणगानातिरिक्तसाधनं विनैव **सच्चिदानन्दता** अक्षरब्रह्मता भवति. ततः इति पाठे गुणगानादेवेत्यर्थो: बोध्यः. एतेन गुणगातुः स्वावस्थापरीक्षणप्रकारश्चोक्तः. एवं च सिद्धान्तमुक्तावल्यां ''ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन''मित्यनेन यदवान्तरफलमुक्तं तदीदृशानामेव भवतीति बोधितम्।।९।।

एवं त्यागिषु मुख्याधिकारिणां यादृग्निरोधस्य सिद्धिः तत्स्वरूपमुक्त्वा तत्र स्वानुभवमग्रिमसिद्ध्यर्थं प्रमाणयन्तस्तद्वर्णनप्रयोजनमाहुः **अहमित्या**दि.

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम्॥१०॥

अहं निरुद्धः पूर्वोक्तरीत्या भगवदासक्तः **रोधेन** संसारावेशराहित्यादिन्द्रियनिग्रहेण **निरोधपदवीं गतः** निरोधमार्गं प्राप्तः सन् **निरुद्धानां रोधाय** संसारावेशराहित्याद्यर्थं तं पूर्वोक्तनिरोधं **वर्णयामि. तुः** प्रयोजनान्तरशङ्कानिरासे. त इति पाठे तु चतुर्थी. तथा च यः कथं भक्तिवृद्धिरित्यादिकं पूर्वं पृष्टवान् तस्मै तुभ्यं तदर्थमग्रे **वर्णयामी**त्यर्थः॥१०॥

एवं मध्यमाद्यर्थं निरोधवर्णनं प्रतिज्ञायोपपादनपूर्वकं तदुपयोगिनिरोधस्वरूपमाहुः **हरिणेत्या**दि.

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्॥११॥

विनिर्मुक्ताः विशेषेण त्यक्ताः, स्वीयत्वेन नाङ्गीकृता इति यावत्. **अत्रेति** गुणगाने भावनायां च. तथा च संसारावेशस्य भगवदनङ्गीकृतलक्षणत्वात्तद्विरुद्धा या गुणगाने भावनायां चाहर्निशं मोदप्राप्तिः, सा निरुद्धानां सामान्यलक्षणमित्यर्थः सिध्यति॥११॥

एवं लक्षणं निरूप्य भावकापेक्षया गुणगातृषु विशेषमाहुः **गुणेष्वित्या**दि.

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्॥१२॥

मुरवैरिणः जडदोषनिवर्तकस्य गुणेषु गोवर्धनोद्धरणादिषु **सर्वदा**सक्तचित्तानां **संसारश्च विरहक्लेशश्च न स्यातां** किन्तु **हरिवत् सुखम्.** तथा च भावकानां दुःखाशंसया सुखाकाङ्क्षया भगवत्कृतस्मरणाकाङ्क्षया च विरहकृतं दुःखमेव बहुलम्, तत एव च शीघ्रं लयः. गातृणां तु संसारावेशाभावान्न लौकिकं दुःखम्, विरहस्फूर्तावन्तर्निष्ठा, बहिरनुभवे च गुणगानम्. अतो भगवत इव सुखमित्यर्थः॥१२॥

एवं भावयितृगात्रोर्विशेषमुक्त्वा तस्य कृपाहेतुकत्वं निगमयन्ति, मध्यमाधिकारे हेतुं तद्व्यवस्थां च वदन्ति **तदेत्या**दि.

---

१ यमेवैषवृणुत इति श्रुतेः. २ स्वस्याधोक्षजत्वाद् गुणेषु.

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथाऽक्रूरता मता।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिद्ध्यति।।१३।।

यदा पूर्वोक्ता रीतिः **तदा भगवतो दयालुत्वं** भवेदिति पूर्वोक्तस्य निगमनम्. अथ मध्यमस्य व्यवस्थोच्यते अन्यथेत्यादि. अन्यथा यदि न गुणाविष्टचित्तता तदा अक्रूरता भगवतः, अघातकता तस्मिन् भक्तिमार्गच्युत्यभावहेतुतेति यावत्. सा **मता** संसारावेशाभावगुणाविष्टचित्तत्वाभावाभ्यां युक्तिभ्यामनुचिन्तिता. तथा च तेन मध्यमाधिकार इत्यर्थः. एतद्व्यवस्थामाहुः बाधेत्यादि. अत्र अक्रूरतायां **बाधशङ्का** भगवद्विषयकाज्ञानकृता निरोधच्युतिशङ्का, अपिशब्दात् भावनाप्राबल्यकृतो लयश्च नास्ति, तदध्यास आसक्तिभ्रमन्यायको भगवदध्यासश्च सिध्यति. तेनेयं सर्वात्मभावप्राकट्यवती मध्यमाधिकारिव्यवस्थेत्यर्थः. एतदेव कार्यं तज्जनकस्य तादृशनिरोधस्य लक्षणं ज्ञेयम्. एतावता भक्तिवर्धिन्यां “बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तना”दित्यनेन यद्भक्तिवृद्धिसाधन मुक्तं तस्य फलमुपपादितं ज्ञेयम्।।१३।।

अथादृढबीजभावस्य पूजादिभिर्यतमानस्य संसारा वेशसत्वात् तस्य व्यवस्थां त्रिभिर्वदन्तः तत्कृतसेवाया आधिदैविकीत्वाय पूर्वमुद्वेगनिवर्तकं सर्ववस्तुसमर्पणरूपं साधनमाहुः **संसारावेशेत्यादि.**

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्।।१४।।
भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्।।१५।।
एवं ज्ञात्वा मानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः।।१६।।

तादृशेन हि संसारावेशदुष्टानीन्द्रियाणि निग्राह्याणि. तानि च निगृह्यमाणानि क्षोभं जनयन्ति, अतस्तदभावार्थं तेषां **हिताय** वै निश्चयेन सर्वाणि वस्तूनि स्वीयानि **कृष्णस्ये**ति. अवतारादिवारणाय भूम्न इति. एतावन्मात्रसाधनकरणेपि विषयव्यासङ्गनिवारणसामर्थ्यबोधनाय ईशस्येति. “तं यथा यथोपासत” इति श्रुत्या तत्क्रतुन्यायेन चोक्तधर्मपुरस्कारेण चिन्तनस्यावश्यकत्वात् पदत्रयकथनम्. तेन फलमुपपादयन्ति भगवदित्यादि. एकादशस्कन्धे “दारान् सुता”निति प्रबुद्धवाक्ये

---

१ श्रुतौ दुष्टानीन्द्रियाणि ह्यध्वपारप्रापकाणि न भवन्ति, सदिन्द्रियाणि तु प्रापकाणि.

सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्धर्मत्वकथनात्, कविवाक्ये च ‘‘भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति’’ रित्यादिश्लोकद्वये विषयवैराग्यस्य फलत्वेन कथनात्, सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्धर्मस्य सामर्थ्याद्विषये **विराग स्थिरो भवति**. तथा च भक्तिवर्धिन्यां ‘‘स्नेहाद्रागविनाशः स्या’’दित्यनेन यत्फलमदृढबीजभावस्य स्नेहादुक्तम्, तत्स्थैर्यकथनेन तज्जनकस्य स्नेहस्यदार्ढ्यभवनमत्र फलत्वेन बोधितम्. एवं सर्वसमर्पणात्मकं योजनमेतादृशस्य निरोधलक्षणमिति च. आसक्तिदार्ढ्याय साधनान्तरमाहुः गुणैरिति. द्वितीयस्कन्धे ‘‘विचक्षणा यच्चरणोपसादना’’दिति शुकवाक्ये कीर्तनप्रणालिकया भगवद्गतिं प्राप्नुवतां गतल्कमत्वकथनेन कीर्त्यमानैर्गुणैः **हरिसुखस्पर्शात्** लौकिकं **दुःखं कर्हिचिदपि न भाति,** न ज्ञानविषयीभवतीत्यर्थः. अत्र सर्ववस्तुयोजनस्य पूर्वं कथनेन तस्याधिकाररूपता बोधिता. तेन ‘श्रद्धामृते’त्यारभ्य आत्मनिवेदिनां भक्तिफलबोधकमेकादशस्कन्धीयं भगवद्वाक्यजातं स्मारितम्. तेनात्मनिवेदनपूर्वकं क्रियमाणेन गुणगानेन दुःखानुसन्धानाभावरूपं फलं सिध्यतीति बोधितम्. **एवं** फलमुपपाद्य दार्ढ्यार्थं तत्कृतिमुपदिशन्ति एवमित्यादि. एवंपूर्वोक्तरीत्या गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्षमवधार्य, **अमत्सरैरलुब्धैश्च** परोत्कर्षासहनं मत्सरः, लोभो गर्धः, अत्यन्ताभिलाषः, ताभ्यां दोषाभ्यां रहितैः, **सर्वदा गुणा वर्णनीयाः**. उत्कर्ष इति प्रथमान्तपाठे तु गुणैः हरिसुखस्पर्शात् दुःखाभानं ज्ञात्वा गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्षः सिध्यतीति शेषेण वाक्यं **पूरणीयम्**. तथा चैतदज्ञात्वा गुणवर्णने दुःखाभानमात्रम्. ज्ञात्वा वर्णने त्वेष उत्कर्ष इत्युक्तं भवति. तथा चैवं गुणवर्णने दुःखाभानमात्रम्. ज्ञात्वा वर्णने त्वेष उत्कर्ष इत्युक्तं भवति. तथा चैवं गुणवर्णने तैष्वासक्तौ ‘‘तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति ही’’ति न्यायेन भगवदासक्तिदार्ढ्ये भक्तिवर्धिन्यक्ता गृहारुचिर्गृहस्थानां बाधकत्वानात्मत्वभानं च दृढीभवतीत्यर्थबलेन बोधितम्. एवं गुणगानं चासक्तिमतो निरोधलक्षणमित्यपि.

अथ व्यसनदार्ढ्याय भगवति साक्षात् परम्परया च स्वीयेन्द्रियविनियोगादिरूपं साधनान्तरमाहुस्त्रिभिः **हरिमूर्तिरित्यादि**.

हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा।।१७।।
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत्।।१८।।
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः।।१९।।

---

१ दुःखानुसन्धानरूपमिति पाठः

योऽदृढबीजः व्यसनार्थं यतते, तेन हरेर्भगवतो मूर्तिः स्वयं सेव्यमाना **सदा**भीक्ष्णं निरन्तरं वा **ध्येया**, भगवदभिन्नत्वेन ध्यातव्या. **हि** यतो हेतोः. **तत्र** मूर्तौ **सङ्कल्पा**दभिन्नताविचाराद्दर्शनं **स्पर्शनं** चक्षुषस्त्वचश्च कार्यं स्पष्टं स्वरूपदर्शनेन तत्स्पर्शनेन च भगवत्सम्बन्धितया स्फुटम्. पूजाप्रवाहेण तत्र सन्निधाने लब्धे अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तन्यायेन, गुणोपसंहारे कार्याख्यानाधिकरणे 'सम्बन्धादेवमन्यत्रापी''ति सूत्रेङ्गीकृते, निबन्धे च ''तद्रूपं तत्र च स्थित''मित्येतद्बोधिते भगवदावेशे, वह्न्ययोगोलाकन्यायेन च भगवतस्तद्व्याप्य बहिर्भावात् स्फुटमित्यर्थः. एतदेव हस्तपादयोः कार्येऽतिदिशन्ति तथा **कृतिगती सदेति**. उक्तन्यायेन यथा पूर्वोक्तं द्वयं भगवत्सम्बन्धि स्फुटम्, तथा **कृतिगती** हस्तपादयोः कार्ये भगवत्सेवायां तदर्थं चलने च **सदा** भगवत्सम्बन्धिनी स्पष्टे. पूर्वोक्तं स्पष्टपदमत्र विभक्तिलिङ्गविपरिणामेन सम्बध्यते सन्दंशात्. श्रोत्रवाक्कार्ययोस्तथात्वमाहुः श्रवणं **कीर्तनं स्पष्टमिति**. एतयोः प्रकारान्तरेणापि भगवत्सम्बन्धित्वस्य सर्वसम्मतत्वं बोधयितुं स्पष्टपदस्य पुनरुक्तिः. उपस्थे भगवदुपयोगित्वस्यास्फुटत्वात् तस्य भगवत्सम्बन्धित्वाय प्रकारमाहुः पुत्रे **कृष्णप्रिये रति**रिति. ''कामः सङ्कल्पजः स्मृतः'' ''सङ्कल्पप्रभवान् काम''नित्यादिवाक्यैः सङ्कल्पस्य पुत्रे कामे कृष्णस्य प्रिये **सति** रतिरूपस्थकार्यं भगवत्सम्बन्धि भवतीति शेषः. गोपालतापनीये ''यं मां स्मृत्वा निष्कामः सकामो भवती''ति गान्धर्वीं प्रति भगवद्वाक्यस्य श्रावणाद्भगवद्ध्यानात् तादृशसङ्कल्पेन भगवद्विषयककामोत्पत्तौ सापि भवतीत्यर्थः. भगवद्विषयककामाभावे तु यथोपस्थहितं भवति तथा प्रकारस्त्वग्रे वाच्यः. **पायो**र्विनियोगमाहुः पायोरित्यादि. **पायो**ः कार्यं हि विसर्गः, स चात्र मलांशत्यागरूपः तेन कार्येण तज्जनकस्येन्द्रियस्य **तनौ शेषभावं नयेत् भगवति** विनियोज्यमाने स्वशरीरे तच्छोधनद्वारा गुणभावं प्रापयेत्. अत्रामयर्थः. वेणुगीते 'अक्षण्वता'मित्यत्र सुबोधिनीस्थास्विन्द्रियफलबोधिकासु कारिकासुयद्रोमोद्गमरूपं पायुकार्यमुक्तम्, तथा ''एषां तु भाग्यमहिमे''ति प्रक्षिप्ताध्यायश्लोकविवरणे ''रोमाञ्चस्वेदौ दशमकार्य'' मित्युक्तम्. यच्च तृतीयस्कन्धे ''मुञ्चन्मीलद्दृशाऽश्रु च'' इत्यत्रानन्दाश्रुमोचनरूपं तत्कार्यमुक्तं, तत् प्रथमाधिकारे न सम्भवति, द्वितीयस्कन्धे ''तदश्मसारं हृदय''मित्यत्र तथा निर्णयात्. अतोत्र ''अन्नमशितं त्रेधा भवती''त्यादिछन्दोगश्रुत्युक्तोऽबन्नयोः स्थूलधातुः मूत्रपूरीषात्मको यश्च ''कफः पितं मलः स्वेषु प्रस्वेदो नखलोम च. कर्णविट्दूषिका चेति धातूनां क्रमशो मला'' इति वैद्यकोक्तो मलांशः, स हि पायुनैवेन्द्रियेण तत्तद्देहछिद्रद्वारा निर्गच्छति. तावतैव तस्येन्द्रियस्य विनियोग इति गौणत्वेन शेषता. किञ्च, पूर्वं

‘संसारावेशदुष्टाना’मितीन्द्रियविशेषणेन मध्ये चामत्सरैरलुब्धैश्चेति कथनाद्गुणवर्णनकर्तृषु तत्सत्ताबोधनेनान्ते चोक्तपायुकार्यकथनेन चैतेषां जघन्याधिकारित्वं बोधितम्. तेन ये भक्तिवर्धिन्यामदृढबीजभावा उक्तास्तदर्थोयमुपदेश इति सूचितम्. किञ्च, अत्र मनःप्रभृतीनां नवानां विनियोजनप्रकार उक्तः, घ्राणरसनयोस्तुविनियोगः कोपि नोक्तः. किञ्च, भगवत्प्रिये कामे उपस्थविनियोगकथनात् तदभावे तदभावः सूचितः. तथा सति तेषां भगवदुपयोगाभावे किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः **यस्य** वेत्यादि. **वे**त्यनादरे. **यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा** तस्येन्द्रियस्य **विशेषेण निग्रहः** संयमः कर्तुमावश्यक इति निश्चयः. तथा च यदि तत्र तेषां निग्रहं न कुर्यात् तदा, नो चेत् ‘प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता’ इत्युक्तन्यायेन विषयदस्युषु पाते संसारावेशरूपं महदेवानिष्टं स्यात्, अतस्तदावश्यकमित्यर्थः. एवञ्च जघन्याधिकारिणां यदुक्तोपदेशरीत्या करणं तदपि तदुचितनिरोधस्यैव लक्षणम्. तत्रापि मुत्प्राप्तिश्चेत्, तदा सुतरां तथेति बोध्यम्. एवं करणे उद्वेगनिवृत्या क्रमेण सेवाया आधिदैविकीत्वं सम्पद्यत इत्येतदेव जघन्याधिकारिणां मुख्यं साधनमिति सिध्यति.

एवं सर्वमुपदिश्य जघन्याधिकारिणामेतत्प्रवृत्तिमुत्पादयितुं ग्रन्थान्तर उपदिष्टेभ्यः साधनान्तरेभ्य एतस्य साधनस्योत्कर्षं वदन्ति **नात** इत्यादि.

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्॥२०॥

जघन्याधिकारिणा**मतः** उक्तात् साधनजातात् परतर उत्कृष्टतरः मन्त्रोष्टाक्षरादिर्न. तदावर्तनं हि सेवाकरणाङ्गत्वेनोक्तम्, अनुकल्पत्वेन च, अतस्तथेत्यर्थः. एवमग्रेपि बोध्यम्. **स्तवः** कृष्णाश्रयादिस्तोत्रपाठः, सोपि तथा, अनुकल्पत्वादङ्गत्वाच्च, विवेकधैर्याश्रये तथैवाङ्गीकारादिति. **विद्या** उपासना, **तीर्थं** गङ्गादि, तयोरपि भगवत्कृपाभावे विलम्बेन फलसाधकत्वात्, श्रुतौ तत्क्रतुन्यायादरणात्, भारते च यज्ञतीर्थयोः समानफलत्वेन कथनात् तयोरत्र पृथगुक्तिः. तेन जघन्यानामदिकारिणामत्रोक्तं योजनादिसाधनत्रयमेवात्यावश्यकम् तेनैव स्नेहासक्तिव्यसनानां क्रमेण गृहत्यागोत्तरं पूर्वोक्तनिरोधात्मकभक्तिवृद्धिसिद्धिरिति निष्कर्षः चाचा गोपीशाः श्रीहरिरायाश्च “हरिणा ये विनिर्मुक्ता” इति श्लोकोत्तरं ‘संसारावेशश्लोकं’ पठन्ति, तदग्रे च ‘गुणेष्वाविष्टचित्ताना’मित्यादीन् क्रमेण श्लोकान् पठन्ति. व्रजराजास्तु येन क्रमेण पेठुः, तेन क्रमेण मया व्यारव्यातम्. व्यारव्यानप्रकारस्तु सर्वेषां नैकविध इति मया स नानूदित इति दिक्॥२०॥

आचार्यवर्यकृपया हृदयस्थितेन यत् प्रेरितं भगवता व्रजनायकेन॥
तद्वाक्यजातमलिखत् पुरुषोत्तमारव्यः श्रीविठ्ठलेशचरणाम्बुजदासदासः॥१

इति श्रीपीताम्बरात्मजेन श्रीपुरुषोत्तमेन विरचिता निरोधलक्षणवर्णनविवृत्तिः.

---

१ इत्यादिरूपाधिभौतिकी. अनया सर्वात्मभावः सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तः ता नाविदन्निति वाक्येन विवृतः, विच्छिद्यते चेदाध्यात्मिक्यपि. २ सर्वसमर्पणात्मकं योजनं तदादि. ३ व्याख्याने प्रकारद्वयम्. भक्त्यनुगुणः, शास्त्रार्थरीत्या बुभुत्सुबोधकश्च. तत्रायं द्वितीयः.

श्रीकृष्णाय नमः।

निरोधलक्षणम्।

श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजकृतविवरणसमेतम्।

व्रजस्त्रीहृद्यगिरिषु रोमालियमुनातटे।तद्बाहुलतिकावृन्दे क्रीडन्कृष्णो विराजते।।१।।
गोपीशरतिमार्गाब्जमार्तण्डाचार्यसंस्कृतः।मयि श्रीगोपिकाधीशनिरोधोऽस्तु महाफलः।।२।।
स्वाचार्यचरणाम्भोजकृपया तन्निरूपितः।स्वीयसौकर्यबोधाय निरोधः क्रियते स्फुटः।।३।।
श्रीविट्ठलेशपादाम्बजकृपारससुवृष्टिभिः।निरोधकल्पवृक्षो मे सिञ्चितः फलितोभवत्।।४।।

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयेषु कृपया निरोधफलदित्सया निरोधस्वरूपं विवृण्वन्ति. तस्य फलात्मकानुशयनरूपत्वात्तत्र च प्रथमं प्राकट्यमपेक्ष्यत इति यथा प्राकट्यपूर्वकः. सिद्धो भवेत्तथा निरूपयन्ति. यच्चेति पूर्वं येन प्रकारेण व्रजे निरोधार्थं प्रभुराविर्भूतः स मयि नास्तीति तदभावजदैन्येन तत्प्राप्त्यर्थं तथा प्रार्थनीयो यथा स भावो भवतीत्याहुः **यच्च दुःखमि**ति.

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्।।१।।

यद्दुःखं यशोदाया नन्दादीनां गोपिकानां गोकुले भगवदाविर्भावात्पूर्वमभूत् तद्दुःखं मम क्वचित्स्यादिति सम्बन्धः. भगवदाविर्भावाज्ज्ञायते यत्सर्वेषां तत्रत्यानां तादृशं दुःखमभूद्येन भगवदाविर्भावोऽजनि. अन्यथा भगवान्निःसाधनः दुःखाभावेन प्रकटो भवेत्. चकारत्रयेण तत्सम्बन्धिनामपि तादृग्दुःखमभूदिति भावो ज्ञाप्यते. अन्यथा संसर्गतोपि दोषः स्यात्. क्वचिदिति स्वस्य दैन्याधिक्यार्थमयोग्यत्वज्ञापनाय. गोकुल इति पदात्सर्वथा तत्रत्यानां निर्दोषत्वं ज्ञापितम्. यतस्तत्रानभिज्ञतेति न चातुर्यकापट्यादिना दुःखमभूत्, किन्तु साहजिकमेव।।१।।

एतद्दुःखानन्तरभावि भगवदाविर्भावजं सुखं तत्रत्यानामिव भवेदिति प्रार्थनीयं दैन्येनेवेत्याशयेनाहुः **गोकुल** इति.

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति।।२।।

गोपिकानां गोकुले इन्द्रियकुले, तु पुनः सर्वेषां व्रजवासिनां भगवदाविर्भावे जाते यत्सुखं समभूत्तत्सुखं भगवान् किं मे विधास्यति. अत्रायं भावः.

गोपिकानामिन्द्रियकुले 'आत्मानं भूषयाञ्चक्रु'रिति न्यायेन जात आनन्दो भगवान् षड्गुणैश्वर्ययुक्तः सर्वं कृत्वा सर्वदानसमर्थस्तादृक्स्वरूपं सम्पाद्य तथा दानं करिष्यतीति समग्रो मनोरथः. तस्य भावस्यात्यन्तं दुर्लभत्वात्क्रमेण भविष्यतीति भावः तु पुनः सर्वेषामेव व्रजवासिनां भगवदाविर्भावे जाते य आनन्दो जातः, येन वृद्धा बालाश्च उल्लसितहृदयाः नृत्यं कृतवन्तस्तादृशं मे भगवान् विधास्यति।।२।।

ततो भगवन्नित्यस्थित्यात्मकानन्दसुखप्रार्थनामाहुः **उद्धवे**ति.

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्।।३।।

उद्धवागमने जाते वृन्दावने व्रजस्त्रीषु गोकुले नन्दादिषु यथा सुमहानुत्सवो जातस्तथा मे मनसि क्वचिद्भगवान्करिष्यतीति सतापमनोरथः. सुमहानिति पदेन पूर्वोत्सवाद्विशिष्टत्वं ज्ञाप्यते. तथा हि, उद्धवागमनात्पूर्वं मथुरास्थानां ततो भगवानत्रागत इति तत्रत्या न भगवदीया इति ज्ञानं भगवतो व्रजनित्यस्थित्यज्ञानेन भवेत्तत्र च श्रीमदुद्धवैरत्र नित्यस्थितिर्दृष्टेति तथैव ज्ञानं भविष्यतीति मनस्युत्सवः पूर्वस्माद्विलक्षणो जातस्तथाचार्यैः श्रीभागवतविवृतौ प्रपञ्चितम्. तादृश उत्सवो मम मनसि क्वचित्स्यादिति भावः. यद्वा, गोकुले वृन्दावने वा उद्धवस्यागमने जाते सति तत्रत्यभक्तदर्शनेन तद्भावप्राप्त्यर्थं तच्चरणरजःसम्बन्धयोग्यजन्मप्रार्थनात्मक उत्सवो जातस्तथा मम मनसि स्यादिति भावः. यद्वा, उद्धवो भगवता सर्वात्मभावार्थमत्र प्रेषितस्तेनात्रत्यभक्तानामाधिक्यं स्वस्य च नित्यस्थितिर्ज्ञापिता, तेन तस्यागमने जाते सति य उत्सवो वृन्दावने गोकुले वा जातस्तथेति भावः. यतो सर्वात्मभावस्तथैव भवेत्येतदेव निरोधस्थानं, तेन तथा दानेच्छा येषु तत्रैव प्रेष्यन्त इत्युत्सवो भवति तद्दानार्थं वा तथा मे मदुपरि भगवन्मनसि तासां वा स्यादिति भावः।।३।।

नन्वेतावान्मनोरथो भावनयैव कथं सिध्येदित्याशङ्क्य श्रीमदाचार्यकृपयैव सेत्स्यतीति विश्वासपूर्वकं भावनीयं, तेन भविष्यत्येवेत्याहुः **महताम**िति.

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानसुखाय हि।।४।।

महतां कृपया भगवान्यावत् दययिष्यति दयां करोति तावदानन्दसन्दोहः कृपारूपः कीर्त्यमानसुखाय पूर्वोक्ताया स भावो भवतीत्यर्थः. यद्वा, भगवान्यावत्

१ भाव्येति पाठः.२ नित्यस्थितिदृष्टीति पाठः.

महतां कृपां करोति तावत्कृपया जीवस्य सतापदैन्यदर्शनेन दयां करिष्यति तदा आनन्दसन्दोहः कीर्त्यमानसुखाय स्यादिति भावः. भगवान् कीर्त्यमानसुखाय यावन्महतां कृपया दययिष्यति तावद्वा स्यात्. अयमर्थः. यावत् भगवान् दयां करिष्यति तावत् महतां कृपया पूर्वमेव दयातः कीर्त्यमानसुखाय आनन्दसन्दोहः स्यादिति भावः।।४।।

ननु श्रीमदुद्धवागमनजातोत्सवस्य विप्रयोगस्फूर्त्या दुःखसम्भावनरूपत्वात् सुखस्य महत्कृपया जातेपि तस्मिन् कथं निर्वाह इत्याशङ्क्याहु**महता**मिति.

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्।।५।।

महतां कृपया सदा कीर्तनं सुखदं भवतीति शेषः. अयं भावः. सदा तस्मिन्नपि समये कीर्तनं तेषामेव कृपया सुखदम्, प्राणबाधायां जीवनार्थं भवतीति भावः. यद्वन्महत्वमित्यर्थः. ननु विप्रयोगे गुणानां जीवनत्वं नानुभवसिद्धमित्याशङ्क्यास्यालौकिकत्वात्तथा भवति. लौकिकानां न तथात्वमित्याहुः न तथेति. तु पुनः लौकिकानां न तथा सुखं भवतीत्यर्थः. तत्र निदर्शनमाहुः स्निग्धभोजनरूक्षवदिति. स्निग्धभोजकस्य रूक्षवत्, रूक्षभोजनं यथा न सुखं जनयति तथेत्यर्थः।।५।।

ननु ज्ञानस्य दुःखनिवारकत्वं श्रूयते, न गुणगानस्येत्याशङ्क्याहुः **गुणगान** इति.

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः।।६।।

गोविन्दस्य गुणगाने यथा सुखावाप्तिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव जायते, अन्यतः कुतः स्यादित्यर्थः. शुकस्य चेद्गुणगानेन सुखं स्यात्तदा स्वानुभूतं स्वयमेवावश्यः कथयेन्न तु स्वामिन्य एवं गानं कुर्वन्तीति वदेत्. यद्वा, गुणगाने कृते गोविन्दस्य भगवतोपि यथा सुखावाप्तिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव भवतीत्यर्थः. अन्यथा भगवानिव तेपि तद्दुःखदुःखिता भवेयुः. भगवतस्तथात्वं ‘मणिधर’ इति श्लोकादिषु निरूप्यते. यद्वा, गोविन्दस्य गुणगाने या सुखावाप्तिः पुष्टिस्थानां भवति, सा शुकादीनां भगवद्गुणगानानन्दसुखानामपि नेत्यर्थः. अयमर्थः. गोविन्दपदेन व्रजवधूनामिन्द्रियस्य ये गुणास्तद्गुणगानेनैवासां तथा भवति. शुकादीनां सर्वावतारचरित्रमिश्रगुणगानात्तथात्वं न भवतीति भावः. अत एव

निरोधचरित्रकथनप्रस्तावे प्रथमाध्याये सूतोक्तौ तदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छतीति ‘‘सभगवानथ विष्णुरात’’मित्यस्मिन्पद्ये निरूपितम्।।६।।

गुणगानमात्रेणैव कथं भगवान्निरोधात्मके कृपां कुर्यादित्याशङ्क्य तत्स्वरूपमाहुः **क्लिश्यमानानि**ति.

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वसदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः।।७।।

जनान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिस्थं सर्वसदानन्दं बहिर्निर्गतं कुर्यादिति सम्बन्धः. अत्रायं भावः. गुणगानस्य विप्रयोगतापे जीवनैकस्वभावत्वात्तत्तापाप्त्यर्थं भगवदिच्छाकाङ्क्षया तापसहने गुणगाने कृते सति जनान् लौकिकदेहयुक्तान्, यतोऽलौकिकदेहे तापस्त्वानन्दरूप एव भवति, तान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा, यदेति तस्य दुर्लभत्वात् कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिस्थं स्वहृदिस्थं सर्वसदानन्दमाधिदैविकशक्तिरूपं बहिर्निर्गतं कुर्यादित्यर्थः. गुणगानकर्तुर्भावात्मकस्वरूपं तद्धृदिस्थं बहिः प्रकटं कुर्यादिति वा।।७।।

ननु भगवतः सर्वमेवानन्दरूपमिति गुणा अप्यानन्दरूपाः, तेन गुणगानस्याप्यानन्दरूपत्वात्कृपया भावात्मकानन्दस्य बहिःप्रकटकरणरूपस्य को विशेष इत्याशङ्क्याहुः **सर्वानन्दमयस्यापी**ति.

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्।।८।।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभ इत्यर्थः. सर्वानन्दमयशब्देन भगवतो गुणादयोपि भगवद्रूपा जीवेषु रसरूपप्रतिपादकपूर्वकरसदातार इति ज्ञाप्यते. एतज्ज्ञापनायैव मयट्प्रयोगः. मयट् प्राचुर्ये. तेन सर्वमेव भगवदीयमानन्दप्रचुरमित्यर्थः. अत एव गुणगानेन रमणं फलप्रकरणान्तर्गतद्वितीयाध्याये निरूपितम्. अपिशब्देन बहिःस्वरूपप्राकट्यात्मककृपानन्दस्य कथनविशेषो ज्ञाप्यते. स च कुमारिकाव्रतायावान्तरफलपरमफलरूप इति भावः. तासां च गुणगानानन्तरं परमफलप्राप्तिस्तथैव सर्वत्र निरोधाधिकारिणामित्याशयः. कृपानन्दस्य दुर्लभत्वोक्त्याऽनुग्रहैकलभ्यत्वं ज्ञाप्यते. नन्वनुग्रहेतरासाध्यत्वे गुणानामपि तथात्वं स्यादित्याशङ्क्याहुः हृद्गत इति. हृद्गतः स्वगुणान्कृत्वा पूर्णो भूत्वा जनान् प्लावयते मग्नान् कुरुते. रासाब्धाविति शेषः. कृपयैव पूर्वमष्टादशाध्यायोक्तन्यायेन वेणुद्वारा हृद्गतो भवति, ततस्तथैव तद्वर्णनेन स्वयं तत्तापयुक्तो भवति, एतदेव पूर्णत्वम्. अत

एव द्वात्रिंशाध्यायेऽस्मद्भावप्राणनाथै‘‘द्वात्रिंशेऽन्तर्गोपिकानाम्’’ इत्यारभ्य ‘‘तेनैव पूर्णानन्द इतीर्यत’’ इत्यन्तं पूर्णत्वं निरूपितं पूर्वतदभावज्ञापकम्. यद्वा, स्वगुणान् तद्वर्णनेन तापकान्कृत्वा विप्रयोगदलेनापूर्णत्वात्स्वरूपस्य द्वितीयं दलं प्रकटीकृत्य पूर्णः सन् रसैः प्लावयत इति भावः. स्वगुणोद्भूततापानां स्वस्य तेषां दुःखदूरीकरणं युक्तमेवेति भावः. भगवद्गुणानां रसात्मकानां रसरूपतापोद्बोधकता तु ‘‘पूर्णाः पुलिन्द्य’’ इत्यादिषु स्फुटमेव निरूपिता. तेन गुणगानस्य तत्साधकत्वमिति भावः. गुणानां च भगवद्रूपत्वादनुग्रहेतरकोटिसम्भावना न कर्तव्या।।८।।

यस्माद्गुणानां तत्साधकत्वं तस्माद्गुणगानं स्वरूपज्ञानपूर्वकं कर्तव्यमित्याहुः **तस्मादि**ति.

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः।।९।।

यतो गुणास्तत्साधकास्तस्मात्सर्वं परित्यज्य सर्वदा सर्वकालनिरुद्धैस्तद्भावापन्नैर्गुणाः गेया इत्यर्थः. सदानन्दत्वेन, परिज्ञेया इति भावः. अयं भावः. ‘‘सन्त्यज्य सर्वविषया’’निति तत्सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सहेति शेषः. ‘स्वसखीभ्योन्ववर्णय’न्नितिवत्तैः सह गुणा गेया इति भावः. गुणान्विशिनष्टि स्वरूपज्ञानार्थम्, सदानन्देन कृष्णेन परिज्ञेया इति भावः. अयमर्थः. गुणगानगुणाः प्रभुणैव ज्ञेया येन तान् श्रुत्वा स्वयं तद्वशो भूत्वा स्वरूपरसदानं करोति. ननु गुणेषु सदानन्दत्वाभावादेतज्ज्ञाने कथं तत्र तत्त्वं स्यादित्याशङ्कयाहुः सच्चिदानन्देति. स्वतस्तेषु सच्चिदानन्दता सिद्धेत्यर्थः. यतस्तेषु स्वतःसच्चिदानन्दता, अतस्तथा ज्ञात्वा गेया इति भावः।।९।।

ननु निरुद्धानां गुणगानं युक्तमिति सिद्धं, फलासाधकानां साधनदशायां कथं गुणगानं स्यादित्याशङ्कय स्वानुभवात्मकपूर्वस्वोक्तनिरोधस्वरूपमाहुः **अहमि**ति.

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते।।१०।।

अहं रोधेन निरुद्धः, निरोधपदवीं गत इत्यर्थः. अत्रायं भावः. भगवता येषु जीवेषु कृपया निरोधो विचार्यते, स च निरुद्धभक्तसङ्गेनैव सिद्धो भवति, नान्यथेति निरुद्धानाज्ञापयति भुवि प्राकट्यार्थं, तत्सङ्गेन जातो यस्तीव्रतापः सः रोधपदवाच्यो भवति. श्रीमदाचार्याणामपि दैवजीवभक्तिनिरोधार्थं प्राकट्यात्प्रभ्वाज्ञाद्वया करणात्तत्सङ्गजनिततापस्यरोधत्वमिति भावः. एवं च सत्युक्तरीत्या तेषां रोधेनानुरोधेन

भगवता निरुद्धः निरोधपदवीं पुरः प्रकटरूपेणैव गत इति भावः. निरोधफलस्य विप्रयोगतापानन्तरभावित्वादाचार्याणां च लीलामध्यपातिस्वरूपस्य विप्रयोगासम्भवाद्भगवता जीवेषु कृपया तद्दर्शनार्थं तथा प्राकट्यार्थमाज्ञप्तं, श्रीमदाचार्यैरपि तद्दर्शनार्थं स्वानुभव एव प्रदर्श्यते. यथा अहं रोधेन रुद्धस्तथाभूवम्. तथा लौकिके निरुद्धानां रोधार्थं निरोध कथयामीत्याहुः निरुद्धानां त्विति. लौकिक इति शेषः. यद्वा, निवेदनेनैतत्स्वरूपेणैव निरोधयोग्यता भवतीत्याशयेनाहुः निरुद्धानामिति. निरुद्धानां स्वनिवेदितानां रोधाय भगवत्कृतलौकिकासक्त्यभावाय निरोधं वर्णयामीति भावः. ते तवेत्यर्थः. त इत्येकवचनैनैतच्छ्रोतुर्दुर्लभत्वं ज्ञापितम्।।१०।।

एवं प्रतिज्ञाय निरुद्धस्वरूपमेवाहुः **हरिणा य** इति.

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्।।११।।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः. अत्रायं भावः. अकारणं सर्वदुःखहर्त्रा तत्साधनमविचार्य दुःखहरणशीलेन ये विशेषेण निर्मुक्ताः भावात्मकस्वरूपोद्बोधरहिताः कृताः, येन च सागरे संसारसागरे मग्ना दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः. ये तु अत्र अस्मिन्नेव जन्मनि भावात्मकस्वरूपेण निरुद्धास्ते अहर्निशं मोदमायान्ति, सन्तोषं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः. अहर्निशपदेन भावात्मकतया गोपस्त्रीवद्गोपवच्च मोदं प्राप्नुवन्तीति व्यज्यते. अहनि व्रजवरविलासिनीवत्, रात्रौ गोपवत्।।११।।

ननु तासां तेषां च विप्रयोगक्लेशे गुणगानदशासमयः (स) तस्य कथं मोदरूपतेत्याशङ्क्याहुः **गुणेष्विति.**

गुणेष्वाविष्ट चित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्।।१२।।

मुरवैरिणः गुणेषु आविष्टचित्तानां सर्वदा संसारविरहक्लेशौ न स्यातामिति सम्बन्धः. अत्रायं भावः. मुरस्य जलदोषात्मकत्वात्सागरस्थितस्य वैरित्वोक्त्या रससागरदोषनिवारकत्वं व्यज्यते. तस्य गुणेष्वानन्दमयेषु विरहसामयिकोत्कटतापनिवारकजीवनहेतुभूतेष्वाविष्टचित्तानां तौ न स्यातामिति भावः. चित्ते ह्यावेशोक्त्यान्यावेशाभावो बोध्यते. अत एव सर्वदेत्युक्तम्. भगवत्सेवार्थव्यावृत्तावपि तत्परत्वार्थम्. यथोक्तं

जीवोत्कटतापनिवर्तकाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्यां “व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदे”त्यादिना. एवं गुणाविष्टचित्तानां भगवति संसारस्याहन्ताममतात्मकस्य विरहाभाव इति यावत्, विप्रयोगजः क्लेशश्च तावुभावपि न स्याताम्. अयमर्थः. भगवत्यहन्ताममतासहितनित्यसंयोग एव भवेत्, सुखं भवेदिति शेषः. तत्र निदर्शनमाहुः हरिवत्. हरिवत्तौ न स्यातां, सुखं भवेत्. अत्रायं भावः. भगवतो जीवेष्वहन्ताममताभावो कदापि यथा न भवति स्वकीयत्वात्तेषां तद्विप्रयोगजक्लेशोपि तथा. “भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मने”ति भगवतैवोक्तस्तदभावः. निवेदनानन्तरं भगवत्स्वरूपात्मकतैव सिध्यति. एवं सति भगवानिव तौ न स्यातां, सुखं च स्यादेवेति **भावः**।।१२।।

भगवत एवं करणे दयालुतां **हेतुत्वेनाहुः तदेति**.

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति।।१३।।

यदा पूर्वोक्तप्रकारेण सुखं स्यात्तदा भगवति दयालुत्वं भवेत्. अन्यथा मर्यादादिप्रवेशेन क्रूरता मता सम्मता, पुष्टिस्थानामिति शेषः. भगवता एवं करणेभिमानादिबाधशङ्का मर्यादाद्यतिक्रमात्तत्कृतबाधो वा भवेदित्याशङ्क्य नेत्याहुः. बाधशङ्कापीति. अत्र अस्मिन्मार्गे बाधशङ्कापि नास्ति. अपिशब्देन तच्छङ्कैव नास्ति कुतः पुनर्बाध इति भावो व्यज्यते. भगवदध्यासस्य दृढत्वाद्देहाध्यासाभावान्न बाधशङ्केत्याहुः तदिति. तस्य भगवतोऽध्यासोऽपि सिध्यतीति भावः. अपिशब्देन भगवतोप्येतदध्यासो रसरीत्या सिध्यतीति बोध्यते।।१३।।

ननु भगवतो दयालुत्वे सुखोत्पादकता भवतु, परमस्य लौकिकत्वाद्भगवता ऽलौकिकत्वात्कथमेतस्य लौकिकनिरुद्धा निरोधसिद्धिरित्याशङ्क्याहुः **संसारेति.**

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्।।१४।।

संसारावेशेन दुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै निश्चयेन तानि ईशाय योजयेदिति सम्बन्धः. अत्रायमर्थः. संसारावेशेन भगवद्विनियोगप्रतिबन्धः स्यात्, तेन तदावेशो दुष्ट इति तदभावार्थमिन्द्रियाणां निश्चयेन यथा हितं भवति, तानि भगवदर्थं योजयेत्, तेन तथात्वं भवेत्. नन्वेतत्सामग्र्याः पूर्वं लौकिको दोषो निरूपित इत्याशङ्क्य तस्य दोषस्य वस्तुस्वरूपज्ञाने सुरूपतेति वस्तुस्वरूपमाहुः. यतो वस्तूनि सर्वाणि भूम्नः कृष्णस्य. अतो समर्पिते लौकिकत्वं नाशङ्कनीयमिति भावः. “क्रीडार्थमात्मन

इदं त्रिजगत्कृतं ते” “क्रीडाभाण्डमिदं विश्वम्” इत्यादिषु तथैव निरुपितम्. किञ्च, स भूमा समर्थो भवति लौकिकनिवारणपूर्वकमलौकिकत्व (सम्पादकत्व) सम्पादकः, स्वयं च लौकिकरसभोगार्थं स्वस्वरूपमर्यादोल्लङ्घनेनापि स्वभक्तवश्यता स्थित्या तद्भावानुसारेण तस्य रसादानार्थं रमणं करिष्यतीतिभावः. यद्वा, संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां सम्बन्धीनि सर्ववस्तूनि भावात्मकानि वै निश्चयेन कृष्णस्य हिताय रसभोगार्थं योजयेत्. भूम्न इति विशेषणेन स्वस्यापि रसभोगः सिध्यतीति ज्ञाप्यते. कीदृशाय हिताय ईशाय आधिदैविकायेत्यर्थः।।१४।।

ननु संसाराविष्टचित्तदुष्टानां कथं तत्र विरागेण भगवत्यनुरागपूर्वकं समर्पणं स्यादित्याशङ्क्याहुः **भगवद्धर्मसामर्थ्यादि**ति.

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं याति कर्हिचित्।।१५।।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये विरागः स्थिरः स्यादित्यर्थः. भगवद्धर्माणामेतादृशमेव सामर्थ्यं येन तद्धर्मप्रवेशमात्रेणैव लौकिके विषये विरागः स्यात्, तदनन्तरं गुणैः भगवदीयैर्वर्णितैरलौकिकस्वरूपेण हरिसुखं हरेः सुखस्य स्पर्शं प्राप्नोति. कर्हिचिद्भगवदिच्छया परीक्षाद्यर्थकृतमपि दुःखं न यातीत्यर्थः. यद्वा, भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये भगवदीये विशिष्टो रागः स्थिरः स्यात्. किञ्च, गुणैः हरिसुखस्पर्शं याति. अयं भावः. गुणगानेनालौकिकत्वे सम्पन्ने हरेरपि सुखरूपः स्पर्शो यस्य तादृग्भावं प्राप्नोतीत्यर्थः. किञ्च, हृदयतो दुःखं विप्रयोगक्लेशानन्दानुभवात्मकं कर्हिचिदपि न गच्छतीति भावः।।१५।।

एवं निष्प्रत्यूहं तत्स्वरूपं निरूप्य तत्कर्तव्यप्रकारमाहुः **एवमि**ति.

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः।।१६।।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञानमार्गादुत्कर्षो निरूपितस्तं गुणवर्णने ज्ञात्वा अमत्सरैर्मत्सरादिदोषरहितैर्ज्ञानादिषु अलुब्धैः स्वस्य रसभोगेच्छायां भगवदिच्छार्थं गुणाः सदा वर्णनीया इति भावः. सदेति पदेन क्षणमप्यन्यथा न स्थेयमिति ज्ञापितम्. यद्वा, गुणवर्णने य उत्कर्षस्तं ज्ञानमार्गात्सर्वं भगवदर्थमितिरूपाद्भगवदुपदिष्टगोपतुलयाद् (?) ज्ञात्वा सदा अमत्सरैः सापत्न्यादिदोषरहितैरलुब्धैर्भगवतः स्वामृतग्रहणसमये मानादिदोषरहितैर्गुणा वर्णनीयास्तद्भावाप्त्यर्थं, व्रजविलासिनीवत्स्वसमानशीलेष्विति शेषः।।१६।।

एवं गुणवर्णनस्यावश्यकत्वं सोपपत्तिकमुपपाद्य तद्वर्णने क्लेशसहनात्मकं दूषणमुद्भाव्य परिहरन्ति **हरिमूर्तिरिति.**

हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथाकृतिगती सदा।।१७।।

सदा हरिमूर्तिर्ध्येयेति सम्बन्धः. अकारणसर्वदुःखहर्त्रा दुःखहरणार्थमेव मूर्तिधारकस्तस्य ध्येयेति भावः. हीति युक्तश्चायमर्थः. स्वस्य तदर्थप्रयोजनात्सैव ध्येया. ननु तद्ध्यानमात्रेण कथं दुःखनिवृत्तिः स्यादत आहुः दर्शनमिति. ध्यानेन दर्शनं स्पर्शनं च स्पष्टमेव भवतीत्यर्थः. ननु दर्शनं स्पर्शनं च योग्यरूपाभावे कथं स्यादित्यत आहुः तथेति. ध्यानेन तथा आकृतिर्गतिश्च भवेताम्. सदेति नित्यमित्यर्थः. न स भावः पुनरन्यथा भवेत्।।१७।।

नन्वेतत्सर्वं फलदशायां सम्भवति, न साधनदशायामित्याशङ्क्य साधकानां तत्सिद्ध्यर्थमुपायमाहुः श्रवणमिति.

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्।।१८।।

श्रवणं कीर्तनं तथात्वसम्पादकं स्पष्टमेव, तस्मात्कर्तव्यं, तत्करणेन तथात्वं स्यादित्यर्थः. तथाभूतस्य दुःसङ्गवर्जनमाहुः. भगवदप्रियस्य त्यागे निदर्शनमाहुः पायुरिति. मलांशत्यागेन यथा पायुर्गृह्यते तथा बहिर्मुखपुत्रादित्यागेन शेषभागं तनौ स्वकीयत्वेन नयेत्।।१८।।

ननु सर्वेषामात्मा भगवानेवास्ति, तस्मात्कथं त्यक्तव्याः, स्वान्तरङ्गत्वादपि त्यागोनुचित इत्याशङ्क्याहुः **यस्येति.**

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः।।१९।।

यस्य भगवत्कार्यं स्पष्टं न भवति स न भगवदंशः किन्तु प्रकृत्यंश एव, आन्तरं तथा भावे बाह्यमपि तथैव भवति, अन्यथा तु पाषण्डित्वमेव. अत एव निबन्धेऽस्मत्प्राणेश्वरैः 'कृष्णसेवापर'मिति श्लोकविवरणे सेवापरगुरुरित्यादिना तथैव निरूपितम्. विकल्पेन यस्यार्थे भगवान् स्वकार्यं रसरूपं स्पष्टं करोत्येवं न दृश्यत इति व्यज्यते. तदापि निरूपितो यो हस्तः वामहस्तस्तस्य विधिः कर्तव्यः. अयमर्थः. यथा मलांशत्यागानन्तरं वामहस्तस्य शुद्धिं विधाय सर्वकार्योपयोगित्वं क्रियते तथा तस्य स्वात्मजत्वात्तत्र स्वांशभगवति निवेदनं कृत्वा स्वांशं स्वस्मिन्नावेश्य तस्य

त्यागो विधेयः. अस्मिन्नर्थे न सन्देह इत्यर्थः।।१९।।

एवं निरोधस्वरूपं निरूप्यान्यनिषेधपूर्वकमेतत्करणार्थमस्य सर्वाधिकत्वमुक्त्वोपसंहरन्ति **नात** इति.

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्।।२०।।

अतः परतरो मन्त्रो नास्ति, तेन मन्त्रादिषु विश्वासं विहायायमेव ग्रन्थो जाप्यः. एतदुक्तप्रकारेण स्थेयमित्यर्थः. अतः परतरोन्यः स्तवो न. तेनैतदुक्तप्रकारेणैव प्रभुः स्तुत्य इत्यर्थः. अतः परतरा विद्यापि न. या विद्यैकोनविंशाध्याये व्रतप्रस्तावे निरूपिता सेयमेवेत्यर्थः. अतः परतरं तीर्थमपि न. तीर्थे प्रतिबन्धकपापनिवर्तकत्वमस्ति, न त्वाधिदैविकप्रतिबन्धनिवर्तकत्वम्, अस्य चाधिदैविकतन्निवर्तकत्वमस्तीति नातः परतरं तन्निवारकमन्यदिति भावः. तस्मात्प्रतिबन्धकापगमार्थमेतदेव स्तोत्रं सेव्यमिति भावः।।२०।।

इति श्रीगोपिकाधीशवल्लभाचार्यसूचितः।
निरोधो विवृतस्तेन सदा तुष्यन्तु ते मयि।।१।।
निरोधसंशयोऽनेन प्रकारेण सदा बुधैः।
छेत्तव्य इति हि ज्ञात्वा तत्कृपातो विवेचितः।।२।।

इति श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजविरचितं निरोधलक्षणविवरणं सम्पूर्णम्।।

परिशिष्टम् ।

“निरोधलक्षणकी टीका प्रथम श्रीहरिरायजुने कीनीथी पत्र २२”

अथ विचार्यते, को निरोध? किञ्च तस्य कारणम्? कथं वा फलत्वमिति. प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका आसक्तिर्निरोध इति. न चासक्तिमात्रं निरोध इति वाच्यम्. विषयासक्तौ व्यभिचारात्. न च तत्र प्रपञ्चविस्मृतिः, किन्तु तदभिनिवेश एव. न चासक्तिविषयातिरिक्तप्रपञ्चविस्मृतेर्विषयसाधारण्येनातिव्याप्तिरिति वाच्यम्. प्रपञ्चशब्दस्य तत्सामान्याभिप्रायत्वात्. न च लौकिकासक्तिविषयो न प्रपञ्चः. न च प्रपञ्चमात्रास्मरण आसक्तेर्निर्विषयत्वापात इति वाच्यम्. प्रपञ्चातीतस्य तद्विषयत्वात्. न च तद्विषयस्य तदतीतत्वे प्रापञ्चिकजीवासक्तेरविषयत्वमिति वाच्यम्. योगजधर्मप्रत्यासत्या अतीन्द्रियार्थस्येव भक्त्या प्रपञ्चातीतस्य विषयत्वोपपत्तेः. ननु प्रपञ्चत्याग एव कुतो न निरोधविशेषणमिति चेत्. न. तस्य ज्ञानमार्गीयमोक्षसाधनत्वात्. “भक्तानां गृहमेव विशिष्यत”इत्युक्तत्वाच्च. तस्माद्विस्मृतिमात्रमेवात्र मृग्यमिति. स च निरोधो द्विविधः. भागवतोऽन्यश्च. तत्र भागवतो भगवतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं भक्तविषयकासक्तिरिति. “निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभि”रिति वचनात्. अस्यति षष्ठ्या भेदेन निर्देशाच्च. “निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरे”रित्याचार्यचरणैर्विवृतत्वाच्च. लीलारूपेषु सर्गादिषु परिगणितत्वाच्च नन्वत्र लक्षणमिदमनुपपन्नम्, भक्तानां प्रापञ्चिकत्वेन भगवतस्तद्विषयकासक्तौ प्रपञ्चविस्मरणाभावादिति चेत्, उच्यते. प्रापञ्चिकत्वं केन प्रकारेण? न तावत् प्रत्यक्षम्, अस्मदादिप्रत्यक्षागोचरत्वाननुभवात्. भक्तविशेषप्रत्यक्षत्वस्याप्रापञ्चिकत्वानुकूलत्वात्. अत एव तथात्वं बोधयन् भगवान् भक्तानामर्जुनं प्रति “दिव्यं ददामि ते चक्षु”रित्युक्तवान्. “यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिता” इति श्रीभागवतवाक्याच्च. नाप्यनुमितिः, अनुकूलतर्काभावात्. न च दृश्यत्वादेरनुकूलतर्कत्वमिति वाच्यम्, दृश्यत्वस्य प्रागुक्तप्रकारैर्व्यवस्थापितत्वात्. शब्दस्तु “जयति जननिवासः” “तद्विष्णोः परमं पदम्” ‘तद्विप्रासः’ “मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्” “तं भजन् निर्गुणो भवेत्” ‘मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्’ “मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्त” इत्यादिवाक्यैरनुकूल एवेति नानुपपन्नं किञ्चित्. ननु अस्तु भक्तानां तथात्वम्, तथापि भगवतोप्रतिहतज्ञानशक्तेः प्रपञ्चविस्मरणं कथमुपपाद्यत इति चेत्, इत्थम्. भगवतोऽनन्तशक्तिमत्वेन यदा यदर्थं यां शक्तिमाविर्भावयति, सा तदा तत्कार्यानुगुणा

भवति. एवञ्च सति ''श्रिया पुष्ट्ये''ति वाक्ये मुख्यशक्तिप्रायपाठादविद्याया अपि सत्वेन तदाविर्भावनादज्ञत्वमप्युपपन्न

म्. न च विरोधादज्ञत्वे सर्वज्ञत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम्. विरुद्धविविधधर्माधारत्वस्य ''तदेजति तन्नैजती''त्यादिश्रुतिसिद्धत्वात्. एतच्च यथा तथा सविस्तरमस्मत्स्वामिभिर्निरूपितं विद्वन्मण्डने. न च 'बन्धोस्याविद्ययाऽनादि'रिति वाक्यादविद्याश्रयत्वे तया बन्धसम्भव इति वाच्यम्. तस्य मुख्यमायाशक्तिजन्याविद्याशक्तिजन्यत्वात्. ''विद्याविद्ये मम तनू विद्धयुद्धव शरीरिणाम्, बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मित'' इति वाक्यात्. तदेव श्रीमदाचार्यैर्निरूपितं निबन्धे, ''विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते, ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशते''ति. तां च प्रभुः भक्तिमार्ग एव आविर्भावयतीति ''मदन्यते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी''ति वचनादवसीयते. अत एव निरूपितं केनचित् भगवत्स्वरूपतत्वाभिज्ञेन 'संमुष्णन्' इत्यादि. तदेतत् सर्वमाचार्यै''र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम'' इत्यत्र निरूपितमिति सहृदयैस्तत एव विभावनीयम्. अथ किं तस्य कारणमिति चिन्त्यते. न तावल्लोक इव वासनया जन्यत इति वक्तुं शक्यम्. तस्या अनुभवजन्यत्वात्. भगवतश्च साक्षात्कारात् प्राक् लौकिकविषयविषयीन्द्रियाविषयत्वेन अनुभवात्. साक्षात्कारे तु दिव्यदृष्टिदानेन तथात्वसम्भवात्. ''दिव्यं ददामि ते चक्षु''रिति वाक्यात्, ''कश्चित् धीर'' इति श्रुतेश्च. नापि भक्तिः, सा च द्विविधा, मर्यादापुष्टिभेदेन, तत्र न तावदाद्या, तस्या 'भक्त्या त्वनन्यया' 'विशते तदनन्तरम्' ''ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः'' इत्यादिवाक्यैः पुरुषोत्तमसायुज्यफलकत्वेन निरोधाजनकत्वात्. ''ननु भक्त्या सञ्जातये''त्यादिवाक्यैर्मर्यादाभक्तेः पुष्टिभक्तिपलकत्वेन, सा च निरोध इति कथं न निरोधजनकत्वमिति चेत्, उच्यते, तस्या अनुग्रहसहकारित्वेन परम्परासाधनत्वात्. अन्यथा 'नोपासितमहत्तमा' इति वाक्यं विरुध्येत. महदुपासनस्य मर्यादाभक्तिरूपत्वात्, न द्वितीया. तस्यास्तदभिन्नत्वात्, न हि स्वमेव स्वं प्रति साधनं भवति. तर्हि किमाकस्मिकत्वमेवेति चेत्, न तादृशविशेषानुग्रहस्य कारणत्वात्, तादृशत्वं गुणगानसहकृतत्वं विशेषश्च तथा फलदानेच्छैवेति सङ्क्षेपः. वस्तुतस्तु न गुणगानादेरपि साधनत्वं, निःसाधनत्वभङ्गात्, तथापि योगक्षेमसाधारणसाध्यत्वमादाय तथोक्तम्. अथ कथं निरोधस्य फलत्वमिति. सुखदुःखाभावान्यतरभावात्. प्रत्युतासक्तेः स्वविषयाप्राप्त्या दुःखसहकृतत्वाच्चेति. उच्यते. निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिः, सा च स्वविषयविषयकविविधमनोरथजनको भावः, तस्य च रसरूपत्वेन सुखरूपत्वात्. ''रसं हि एवायं लब्ध्वा आनन्दीभवती''ति

श्रुतेः. प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वेन प्रापञ्चिकदुःखाभावरूपत्वाच्च. किञ्च, फलं हि पुरुषार्थः, तत्वं च तेन स्ववृत्तितयेष्यमाणत्वम्. तथा च आसक्तिमध्यपतितदुःखस्य आकाङ्क्षणीयत्वेन तथात्वम्. ‘‘विपदः सन्तु ताः शश्व’’दिति वाक्यात्. अन्यथा श्येनादावपि तज्जन्यनरकस्य तदुभयरूपत्वाभावेन फलत्वं न स्यात्. ‘‘भूयान् मे नरकः शत्रुर्विपद्यतामि’’ति दिया श्येनकरणात्. सुखसाधनं तदिति चेत्, तदा प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिः. न च सुखभ्रमात् प्रवृत्तिरिति वाच्यम्. नरके सुखभ्रमायोगात्. तस्मात् पुरुषार्थ एव फलम्. वस्तुतस्तु दुःखमेव न, किन्तु परमानन्द एव. अत एव श्रीशुकैः सर्वान्ते ‘रेमिरे’ इत्युक्तम्. अत एव श्रीमदाचार्यै ‘‘रतो निरोधो महाफल’’ इत्यभिहितम्. एवं सति भक्तिमार्गे निरोधस्यैव फलत्वात् ससाधनतन्निरूपणं कुर्वन्तः श्रीमदाचार्याः तस्य दुर्लभत्वज्ञापनाय प्रार्थनारूपेण निरूपयन्ति ‘‘यच्च दुःख’’मिति. निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं भगवदासक्तिः. सा च स्वविषयदर्शनाभ्यां सुखदुःखात्मिका. यदिति पदात् दुःखं च लोकविलक्षणं स्वरूपात्मकत्वात् कोटिकोट्यानन्दरूपं युगपत्सर्वलीलानुभावकं भगवदाविर्भावकम्, अतो निरोधस्य प्रथमांशो दुःखं प्रपञ्चविस्मृतेर्भगवदर्थदुःखजन्यत्वात्. अतो मूलभूतत्वादन्तेप्यस्यैव फलत्वादभ्यर्हितत्वेन प्रथमांशं दुःखं प्रार्थयन्ति ‘‘यच्च दुःख’’मिति. यद् दुःखं यशोदाया नन्दादीनां चकारादन्येषशं गोकुले अस्ति तद्दुःखं मम क्वचिदपि स्यादिति सम्बन्धः. नन्वेतत्सर्वं निरोधस्य फलत्वे, तदेव तु न, मुक्त्यादेरन्यस्यैव तथात्वसम्भवादिति चेत्. न अनाकलनात्. ‘‘मानसी सा परा मता’’ ‘‘चेतस्तत्प्रवणं सेवे’’त्यादिभिः सिद्धान्तमुक्तावल्यामाचार्यैर्निरोधपदार्थस्यैव फलरूपसेवात्वेनोक्तत्वात् अतो न काचिच्छङ्केति भावः. मातृचरणदुःखस्य स्त्रीस्वभावतोऽधिकत्वात् प्रथमोक्तिः. ननु पूर्वक्लेशेन भगवदानन्दनिधिप्राप्ताः किं क्लिष्टा एवेति चेत्. अत्रायं भावः. भगवति मथुरां प्रति प्रस्थिते, तत आरभ्य मातृचरणादीनां स्वरूपात्मकविप्रयोगदानेन ते क्लिष्टा एव, परं स महारसो विलक्षणानन्दः. फलस्येयमेव पर्यवसितिर्यदैवमानन्दानुभवः, अतस्तन्मनोरथं कुर्वन्ति ‘स्यान्मम क्वचि’दिति।।१।। एवं यशोदादिदुःखं प्रार्थयित्वा अतिदुरापं गोपिकादुःखं प्रार्थयन्ति ‘‘गोपिकानां त्वि’’ति. तुशब्दः पूर्वस्मादुत्कटत्वप्रदर्शकः. गोपिकानां व्रजसीमन्तिनीनां यत् श्रीभागवतादौ निरतिशयत्वेन प्रसिद्धं स्वरूपात्मकं तत् क्वचिदपि देहेन्द्रियप्राणेषु स्यादिति मनोरथः. यशोदानन्दादीनामेतत्सुखस्य स्वस्य रासस्त्रीभावपूरितविग्रहत्वेन अयोग्यतया अप्रार्थनीयत्वाद् गोपिकादीनामेव सुखांशं प्रार्थयन्ति ‘‘गोकुले गोपिकानां चे’’ति. गोकुले भगवतो लीलाभिर्वेणुनादादिरूपाभिर्गोपिकानां, चकाराद्गोपानां सर्वेषां व्रजवासिनां चापि यत्सुखमनुभूयमानलीलालयसम्पादकमभूत्, तत् किं मे

विधास्यति. अन्यत्र तथाकरणे सामर्थ्याभावमाशङ्क्ययाहुः ‘भगवा’निति. स हि सर्वं कर्तुं समर्थः. अतोऽन्यत्रापि तथा करिष्यत्येवेत्यर्थः।।२।। एवं दुःखं प्रार्थयित्वा लीलाभिर्यत्सुखं तदपि प्रार्थयित्वा आत्यन्तिकविप्रयोगदानानन्तरं यत्सुखं तदपि प्रार्थयन्ति, उद्धवागमन इति. उद्धवस्यागमने जाते यथा गोपिकानां मनसि भगवत्सारूप्यदर्शनेनोत्सवो जातस्तथा मे मनसि क्वचिदपि स्यादिति सम्बन्धः. वृन्दावने गोकुले वेति ‘वा’शब्दः समुच्चयार्थः. यत्र तद्गुणानेव गायन्त्यो व्रजसीमन्तिन्यः सम्भूय स्थितास्तत्र वृन्दावने, तासां नन्दादीनाञ्च गोकुले य उत्सवः स इति तथेति ‘गच्छोद्धव व्रजं’ ‘‘प्राप्तो नन्दव्रजम्’’ इत्यादिसामान्योक्त्यावसीयते. ननूत्सवः कश्चित् पूर्वतन एव, तं विलोक्यागतमित्यादिनोक्तः प्रार्थनीय इति चेत्, तत्राहुः सुमहानिति. पूर्वस्तु महान् मुक्त्यादिभ्यः अयं तु अत्यार्त्युत्तरकालीनत्वात् सुतरामेव महान् सुविस्मिताः कोयमपीच्यदर्शन इत्यादिनोक्तः।।३।। एवमलौकिकसामर्थ्यरूपो मुख्यो निरोधः स्वस्यैव तदधिकारित्वेन स्वविषयतयैव प्रार्थितः. अन्येषां तु भगवान् महापुरुषकृपया स्वाधिकारानुसारेण सायुज्यं वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेहं वा दास्यतीत्यभिप्रायेण तावत्पर्यन्तं स्थितिप्रकारमाहुः महतामिति. यावत् भगवान् फलोन्मुखां दयां करिष्यति तावत् कीर्त्यमानः कीर्तनविषयीक्रियमाण एव सुखायेत्यर्थः. ‘‘महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे’’ ‘‘विना महत्पादरजोभिषेकम्’’ ‘किरातहूणान्ध्र’ ‘‘देवर्षि मे प्रियतमः’’ ‘‘त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन’’ ‘‘सदनुग्रहो भवा’’नित्यादिवाक्यैर्भगवतो दयायां च नान्यत्कारणमिति वक्तुमाहुः महतां कृपयेति. एतेन भक्तिमार्गस्य त एव निर्वाहका इत्युक्तं भवति. ननु कीर्तयमानेपि भगवति फलपर्यन्तं श्रमेण कर्मादिष्विव दुःखमेवेत्याशङ्क्ययाहुः आनन्दसन्दोह इति. भगवतस्तथात्वेन तद्गुणानामपि तदभिन्नतया स्वरूपसमानयोगक्षमेत्वात् साधनदशायामपि तत्कीर्तनेनानन्द एव भवतीत्यर्थः. अत एव अवगतभगवत्कथारसः परीक्षिदेव तदर्थकमेव ‘श्रोत्रमनोभिरामा’दिति विशेषणमुक्तवान्. हि युक्तो यमर्थः. आनन्दे कीर्त्यमाने सुकस्य युक्तत्वात्।।४।। ननु कीर्तनं हि सुखसाधनम्, तत्र महतां कृपयेति को वाग्रहः, यथाकथञ्चिदपि कृतं तत्सुखसाधनमिति प्रश्नेनेत्याहुः महतां कृपयेति. यथा महतां कृपया अलौकिकानां भगवत्सम्बन्धिनां सदा कालापरिच्छेदेन कीर्तनं तापनिवारकं भगवतः प्रादुर्भावकं निरोधजनकं, तथा लौकिकानां लोकसम्बन्धिनां महापुरुषद्वारा भगवच्छरणगतानां कीर्तनं न तथेत्यर्थः. तत्र दृष्टान्तमाहुः स्निग्धभोजनरूक्षवदिति. स्निग्धस्य पदार्थस्य भोजने रूक्षं. तुशब्दो भिन्नप्रकारत्वद्योतनाय. स्निग्धस्य पदार्थस्य भोजने रूक्षस्य प्रीतिरहितस्येवेत्यर्थः.

यथा कस्यचिज्ज्वराद्यभिभूतस्य स्निग्धं वस्तु न रोचते तस्य यथा तद्रसानभिज्ञरसज्ञस्य प्रतिदिनं क्षीयमाणस्य न तद्भोजनं पुष्टिफलम् तथा प्रकृतेपि महापुरुषकृपाभावरूपदोषयुक्तानां तादृशकीर्तने रूक्षाणां लौकिकानां कीर्तनस्य न पुष्टिफलत्वमिति भावः. यद्वा, स्निग्धं भोजनं यस्य स च रूक्षः रूक्षभोक्ता च तयोरिव तद्वदिति. तथा च यथा स्निग्धरूक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथात्रापीत्यर्थः।।५।। ननु “तरति शोकमात्मवि”दिति श्रुत्या ज्ञानेनैव दुःखनिवृत्या सुखप्राप्तेर्ज्ञानावस्थयैव स्थेयं, किं गुणगानेनेति चेत्, तत्राहुः गुणगान इति. यथा गोविन्दस्य गोगोकुलपतेर्गुणानां गाने स्तुतिबुद्ध्या कथने शुकादीनां पूर्णज्ञानवतामपि सुखं तथा तेषामेव आत्मनि स्वात्मविषये ब्रह्मात्म्यैक्यज्ञानेन जायमानं यत्र न तथेत्यर्थः. अत एव व्यासस्येतरपुराणेतिहासकथनेप्यपरितोषः, परितोषश्च श्रीभागवतकथनेनेति दिक्. अत एव “लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च हित्वाश्रितास्ते चरणातपत्रम्, परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्माः”. “अथ ह वाव तव महिमामृत, यदनुचरित, तव कथामृतं, श्रवणाद्दर्शनात्, येन्यतो भागवताः”. तत्र अन्यतः अन्येषां अन्यतः विषयादिभ्यो वा अन्यत्र देहादौ कुत इत्यर्थः. सार्वविभक्तिकस्तसिल्. “ज्ञाने प्रयासमुदपास्य, निवृत्ततर्षैः, नैषातिदुःसहा” इत्यादि वाक्यैः श्रीभागवते तथैव निरूपणाच्च. ननु तरति शोकमावित्, तमेव विदित्वातिमृत्युमेतीत्यादिश्रुतेः का गतिरिति चेत्, अत्र वदामः, तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्येति वाक्याद्भक्तिमतो ज्ञानानपेक्षणाज्ज्ञानिनस्तु नैष्कर्म्यमपीत्यादिवाक्यैर्भक्त्यपेक्षणात्तन्निरपेक्षभक्तमार्ग एव समीचीनः. श्रुत्यादिषु ज्ञानफलोक्तिस्तु दुःखाभावपर्यवसानैव, परमानन्दावाप्तिस्तु भक्त्यैव. वस्तुतस्तु दुःखाभावोप्येतदधीन एव. अनर्थोपशममिति वाक्यात्. अत एवाचार्यैरानन्दमयादिकरणे ‘एवं सती’त्यारभ्य स्वीयत्वेन वरणे भक्त्यभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्या पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवतीति निर्णीयत इत्यभिधायि।।६।। ननु गुणगाने कृतेपि किं भवतीत्याशङ्क्य तत्र प्रवृत्यर्थं परिचायकं फलमाहुः क्लिश्यमानानिति. गुणगानेन तत्स्वरूपस्मृत्या तत्प्राप्त्यर्थं क्लिश्यमानान् उपतपतो जनान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् तदा सर्वं सर्वात्मकं सदानन्दं परं ब्रह्म हृदिस्थं परमव्योम्नि प्रादुर्भूतं बहिः प्रकटं भवतीत्यर्थः. अत एव व्रजसीमन्तिनीनां गुणगानेन हृदि प्रादुर्भूय तन्मनस्का इत्यादिना तताभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूत इत्युच्यते. तदेवोक्तमाचार्यैः “नहि साधनसम्पत्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्, भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधन”मिति. यद्वा, सदानन्दस्य भगवतो हृदिस्थं अभिप्रायादिकं बहिर्निर्गतं भवतीत्यर्थः. अयिमभिसन्धिः. “रुरुदुः सुस्वरं राजन्” नित्यादिना तादृशभावे यदा कृपायुक्तो जातस्तदा भगवतोभिप्रायः प्रभुणैव मया परोक्षं भजता,

न पारयेहं निरवद्यसंयुजामित्यादिनाविर्भावित इति तथेत्यर्थः।।७।। ननु किमिति कृपापेक्षया गुणगानेन क्लेशः सम्पादनीयः, ज्ञाननिष्ठया ब्रह्मानन्द एव सम्पाद्यतामिति चेत्, तत्राहुः ‘सर्वानन्दमयस्यापी’ति. एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानीति श्रुतेः सर्वत्र स्थितो य आनन्दः स भगवति प्राचुर्येण वर्तत इति तदाश्रितस्य मानुषानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दो न कस्यापि दुर्लभत्वम्, “सर्वं मद्भक्तियोगेन”ति वाक्यात्, तथापि कृपानन्दः कृपारूपो य आनन्दः स भगवद्धर्माणां स्वरूपसमानयोगक्षेमत्वात् कृपया वा यो भजनानन्दाख्यः स तु सुतरां दुर्लभ एव. ब्रह्मानन्दस्यापि दुर्लभत्वात्. सम्भवति साधनमिह किञ्चिदिति चेत्? गुणगानमेवेति गृहाण. अत एवोक्तमाचार्यैः “लौकिकस्त्रीषु संसिद्धः तद्द्वारा पुरुषे भवेत्. स्वानन्दस्थापनार्थं हि योग्यतापि निरूपिता. अतो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यत” इति. एतदर्थस्तु प्रभुचरणैरेवं विवृतः. “भजनानन्दस्य स्वरूपात्मकत्वेन रसरूपत्वात् तस्य च स्वशास्त्रसिद्धस्यैव तथात्वात् भगवदतिरिक्तलोके विवाहवतीषु सम्यक्सिद्धो भवति. तत् एतत्कथाश्रवणेन तद्भावोदये पुरुषेपि स रसो भवेत्, नान्यथेति स्त्रीष्वेव तद्दानमित्यर्थ इति. तत्रैव द्वितीयकारिकार्थनिरूपणे यद्वा, बलदेवे स्वधर्मान् निरूपयता भगवता “गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्री”रिति वाक्ये श्रियोपि स्पृहानिरूपणेन तस्या अपि दुर्लभो यो रसः तं प्राप्य गोप्यो धन्या इति व्रजस्त्रीष्वेव स्वानन्दानुभवयोग्यता निरूपिता, नान्येषु नान्यासु वेत्यर्थः. तथा च तत्रैवैतदधिकारित्वात् तथेति भाव इत्येतत्सर्वं हृदिकृत्योक्तं कृपानन्दः सुदुर्लभ इति. “नायं सुखापः” “नेमं विरञ्चः” “एता परं” “क्वेमाः स्त्रियः, नायं श्रियः” ‘आसामहो’ इत्यादि वाक्यैः श्रीभागवतेपि तस्य तथात्वनिरूपणाच्च. कृपानन्दस्य दुर्लभत्वबोधकं तत्कार्यमाहुः ‘हृद्गतः’ इति. हृद्गतः हृदयप्रविष्टः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः गुणगानेन प्रतिक्षणं वर्धमानः जनान् प्लावयते रससिन्धौ निमज्जयतीत्यर्थः. अत एव ‘बर्हापीडे’ति पद्ये स्वामिनीनां सुधाद्वारा भावात्मकः प्रभुरन्तःप्रविष्टो ‘अक्षण्वता’मित्यादिभिस्तद्वर्णितगुणश्रवणेन पूर्णः क्रीडामयतामेव सम्पादितवान्. अत एवोक्तं श्रीमदाचार्यैर्युगलगीते “अन्तः प्रविष्टो भगवान् मुखादुद्धृत्य कर्णयोः पुनः प्रवेश्यते सम्यक् तदा भवति सुस्थिर” इति. एतद्विवरणे यथार्थस्तथैवास्माभिरुक्त इति सर्वमनवद्यम्।।८।। एवं सोपपत्तिकं गुणगानं तत्स्वरूपम् निरूप्य कर्तव्यत्वेन तदुपसंहरन्ति ‘तस्मा’दिति. यस्मात्कर्मज्ञानोपासनादिमार्गतो भक्तिमार्गो निरतिशयितनिजविषयः “नैष्कर्म्यमपि पूजादिना ब्रह्मलोक”मित्यादिवाक्यात् तस्माद्धेतोः सर्वं कर्मज्ञानोपासनादिकं परित्यज्य सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैर्भगवता स्वीयत्वेन वृतैरत एव किञ्चिद्विस्मृतप्रपञ्चैस्तदर्थं साधनानि विदधद्भिर्गुणा एव सर्वदा सर्वेष्टदातारस्तत्कर्तव्यत्वेन ज्ञेया इत्यर्थः. ननु

वेदमार्गानुसारेणेति वाक्यात् तन्मार्गस्य व्याख्यातृभिर्बहुविधत्वात् केवलं स्वगुणान् गायेदिति शङ्कायामाहुः सदानन्दपरैरिति. सदानन्दः आनन्दमयः परः परमात्मा परमकाष्ठापन्नो न तु पुच्छादि येषां तादृशैरित्यर्थः. विधया विशेषणमेतत्. अनेन ब्रह्मवादे स्थित्वा गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तं भवति. ततः तेभ्य एव गुणेभ्यो जीवस्य सच्चिदानन्दता गुणत्रयाविर्भावेन अक्षररूपतया पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता भवतीत्यर्थः. स्वत इति पाठे गुणगान क्रियमाणे स्वत एव वस्तुस्वाभाव्यात्तथात्वम्. न तु तदर्थं प्रयत्नान्तरापेक्षेति तथेत्यर्थः।।९।। एवं गुणगानकर्तव्यतामभिधाय निरोधलक्षणलीलयैव तत्सिद्धिरिति स्वस्य स्वीयार्थमेव निरोधविवृत्तिकर्तृत्वमिति वदन्तः तस्य फलाव्यभिचारिताज्ञानाय दृष्टान्तं निरूपयन्तस्तत्र स्वानुभवं प्रमाणयन्ति, अहं निरुद्ध इति. अहं निरोधेन स्वरूपं रुणद्धि आवृणोति तादृशेन गुणेन गानद्वारा निरुद्धः भगवता स्वगुणेरावृत्तसर्वेन्द्रियः निरोधपदवीं निरोधस्य मार्गं गतः प्राप्त इत्यर्थः. गत इति कर्तरि क्तः. यद्वा निरोधेन भगवता भक्तेषु कृतेन निरोधेन तद्भावनया अहं तथेत्यर्थः. अत एवोक्तं "भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते" इति. नन्वेतादृशस्य किं निरोधवर्णनप्रयासेनेत्यत आहुः निरुद्धानां त्विति. निरुद्धत्वे प्रकारान्तरद्योतनाय तुशब्दः. भगवता शास्त्रानुसारेण प्रमेयबलेन चात्मसात्कृतानां निरोधाय प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं स्वासक्तिसिद्ध्यर्थं निरोधं निरोधलक्षणं भक्तेषु भगवत्कृतं वा वर्णयामीत्यर्थः. वर्तमानक्रियापदात् सर्वदा एतदभिनिवेशः सूचितः. तेषामर्थे भगवन्तं विज्ञापयन्त इवाहुः त इति. त्वत्सम्बन्धिनां तेषां त्वत्सम्बन्धिनं निरोधं वा. अत एव उभयथापि तवैवायं भार इति भावः।।१०।। नन्वेतादृशेषु गुणेषु विद्यमानेषु कथमत्र सर्वे न प्रवर्तन्त इत्याशङ्क्य तदभाग्यमेव हेतुत्वेन वदन्त आहुः हरिणेति. य इति भाग्यरहिताः. यतस्ते हरिणापि सर्वदुःखहर्त्रापि भगवत विशेषेण नितरां मुक्ताः. उपसर्गद्वयं कथमपि येषां प्राप्त्यभावाय. निबन्धायासुरी मतेति प्रयोजनाभिधानात्. मामप्राप्यैवेति तु प्रमेयबलेनेति दिक्. अत एव श्रीभागवते "विना पशुघ्ना"दिति शुको विशेषणमुक्तवान्. ते आसुराः कर्मिणो देवा अपि भवो जन्ममरणप्रवाहः स एव सागरस्तत्र मग्नाः. तस्य सागरत्वं नक्रादिगिलनसम्भावनया, तत्र यथा पुनरुन्मज्जनासम्भव एवमत्रापि कामादिभिर्ग्रासेन पुनर्मोक्षमार्गप्रवेशासम्भव इत्येतद्धर्मसाम्येन दुर्लभत्वं वदन्तो निरुद्धानां व्यवस्थामाहुः ये निरुद्धा इति. भगवता ये निरुद्धा गुणैरात्मसात्कृताः त एवात्र गुणगाने मोदमानन्दं आसमन्तात् यान्ति प्राप्नुवन्ति. एवकारेण अनिरुद्धानामनीदृशत्वमित्यभाणि. तेषां गुणेष्वरुचेः. तद्रुचिस्तु भगवदनुग्रहेणैव. अत एव अर्जुनाभ्यां भगवता मृदुपदाम्बुजस्पर्शेन देवर्षिवाक्यानुग्रहे कृते वाणी गुणानुकथन इत्यादिना प्रार्थितम्.

उक्तं च तथैव श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैर्भक्तिहंसे, "तदर्थित्वस्य वरणकार्यत्वा"दिति. अहर्निशमिति. न तेषां क्षणमपि सांसारिक दुःखसम्भवः. 'मद्वार्तायातयामाना'मिति वाक्यात्।।११।। ननु पूर्वं गुणगानस्य सुकजनकत्वोक्त्या तस्य च मनोधर्मत्वेन मनस्येवोदयात् तेन तन्निरोधसम्भवः सर्वेन्द्रियाणामहमहमिकया तत्परताया निरोधपदार्थत्वेन आचार्यैरक्षण्वतां फलमित्यस्य विवरणे निरूपितत्वान्मनसस्तथात्वोपायसिद्धावपि कथं चक्षुरादीनां तथात्वमित्याशङ्क्यय तदुपायमाहुः संसारावेशदुष्टानामिति. संसारास्याहन्ताममतात्मकस्य य आवेश आसमन्तात् इन्द्रियेषु प्रवेशस्तेन दुष्टानां विकृतानां भगवद्विमुखानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां हिताय भगवत्परतया हितं कर्तुं सर्ववस्तूनि दारागारपुत्रादीनि कृष्णस्य सदानन्दस्य योजयेत् युक्तं कुर्यादित्यर्थः. कर्मादीनां सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येवेति षष्ठी. ननु कृष्णे समर्पणेन कथं तेषां दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्याहुः ईशस्येति. सति समर्थः. आधिदैविकतामपि सम्पादयितुम्. तस्य दोषनिवर्तकत्वे किमाश्चर्यमिति भावः. ननु कृष्णस्येशत्वेपि न परमकाष्ठापन्नत्वमित्यत्र समाधानमाहुः भूम्न इति. समर्पणे प्रयोजनान्तरमाहुः भूम्न इति तादर्थ्ये चतुर्थी. तथा च भूमशब्दवाच्यसर्वात्मभावप्राप्तये सर्ववस्तूनिसमर्पयेदित्यर्थः. अत एवाचार्यैः साधनाध्याये "भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वम् तथाहि दर्शयती"त्यधिकरणे. ननु सुकस्वरूपजिज्ञासायां यो वै भूमा तत्सुखमित्युक्तम्. भूमस्वरूपजिज्ञासायां यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिना तद्यन्निरूपितं तत् सर्वात्मभावस्वरूपमिति निरूपितम्. यद्वा भूम्न इति भूमा भगवानेव सर्वाधिकः अत एव भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशादित्यधिकरणे भूमा भगवानेवेति निर्णीतमाचार्यैः।।१२।। नन्वेतत्सर्वं भगवता स्वस्मिन् दयालुत्वधर्मे प्रादुर्भाविते सार्थकमन्यथा कृतमपि गुणगानादिकं व्यर्थमेवेत्याशङ्क्य यथा भगवति दयालुत्वं सिध्यति तं प्रकारमाहुः 'गुणेष्वाविष्टचित्ताना' मिति. सर्वदाऽव्यवधानेन भगवतो मुरवैरिणः गुणेषु ऐश्वर्यादिषु वा सौन्दर्यादिषु वा आविष्टचित्तानां अन्यानुसन्धानरहितान्तःकरणानां "तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति ही"त्याचार्यवचनाद् गुणैस्तदासक्त्या वर्धमानया संसारो लौकिकेषु अहन्ताममतारूपः विरहक्लेशः भगवद्विरहेण क्लेशश्च तो उभौ न स्यातामित्यर्थः. "शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते, क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते" 'तव कथामृत'मित्यादिवाक्यात्. यद्वा, संसारस्तद्विरहश्च ताभ्यां यौ क्लेशौ तौ तथेत्यर्थः. अयमर्थः. गुणाविष्टचित्तानां सर्वत्र संसारेण अहन्ताममतारूपेण अभिलषितप्राप्तितदभावाभ्यां यः क्लेशः यश्च संसाराभावेन भगवत्यपि तदभावेन भवति सोपि तथेत्यर्थः.

भगवद्विषयकसंसारस्यसतामप्यपेक्षणीयत्वात्. अत एव ‘‘कुर्वन्ति गोवत्सपद’’ मित्यत्रत्यस्य गोवत्सपदमात्रकरणोक्त्या अहमेतद्दासोऽयं मम स्वामीत्यतावान् संसारः स्थापितो भवतीति निरूपितमाचार्यैः. स च क्लेशः ‘क्लेशोधिकतरस्तेषा’मित्यादिना भगवता गीतायामेव वर्णितः।।१३।। ननु गुणाविष्टचित्तत्वेप्यनिष्टनिवृत्तिरेव किमित्याशङ्कायामाहुः ‘हरिवत्सुख’मिति. हरेः सर्वदुःखहर्तुर्भगवतो यथा सर्वदैव भक्तसाहित्येन सुखं पूर्णानन्दत्वाद्भगवतस्तथा गुणाविष्टचित्तत्वेऽन्तस्तदाविर्भावाद्भगवत्साहित्येन तथैव सुखमित्यर्थः. ‘‘सदा सत्सङ्गयुक्तानामवस्थैवं यदा भवेत्. तदा दयालुता दैन्यदर्शनात्तु हरेर्भवे’’दित्याशयेनाहुः तदा भवेद् दयालुत्वमिति. अन्यथेति. एवं भावाभावे भगवतोपि क्रूरता अवकृपालुता अनवेक्षकत्वेन मतास्माकं सम्मतेत्यर्थः. अत एव नैवात्मन इति श्लोके भगवत आत्मनः प्रभोर्निजलाभपूर्णस्य अविद्वज्जनोपकृतोऽपराग्रहीतुः करुणया किङ्करनिवेदितानुग्राहकत्वमुच्यते श्रीभागवते. सा च पूर्वोक्तभावेनैव भवतीति सर्वमनवद्यम्. ननु कालकर्मस्वभावादिभिर्बुद्धिनाशवैयग्र्योद्वेगादि दोषसम्भवे कथं गुणगाननिर्वाह इति चेत्, तत्राहुः बाधशङ्कापि नास्त्यत्रेति. अत्र गुणगाने कालादिबाधशङ्कैव न, यतो भगवतैवोक्तं श्रीभागवते ‘‘न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो निमिषो लेढि हेति’’रिति. किञ्च. नात्र भगवतापि बाधः कर्तुं शक्यः, तत्र के वराकाः कालादय इत्यर्थः. अत एवोक्तमाचार्यैः ‘‘हैरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपर’’ इति. ननु सर्वकृतिसमर्थस्य भगवतः कथमेतद्भावबाधकृत्यसमर्थत्वमिति चेत्, सत्यम्, परन्तु सर्वस्य वशीति श्रुत्या सर्वावश्यस्य भगवतो भक्तवश्यतेव सर्वसमर्थस्य भक्तभावबाधासमर्थत्वमिति भावः. एवमनिष्टनिवृत्तिमुक्त्वा इष्टप्राप्तिमाहुः तदध्यासोपि सिध्यतीति. गुणगानेन तस्य भगवतः अध्यासः सर्वत्रावभासः सोप्यवान्तरफलतया सम्यक् सिद्धिविषयो भवतीत्यर्थः. अध्यासपदं घटादिषु तदवभासस्य भावप्राप्तयुक्तत्वेन वस्तुत आसक्तिभ्रमबोधनाय. अन्यथा घटादेः पुरुषोत्तमाभिन्नत्वं स्यात्, नहि घटादिः साक्षात्तदभिन्नः किन्तु परम्परया. तस्याक्षरात्मतया तद्द्वारा तथात्वात्, अन्यथा तावद्धर्मविशिष्टत्वं तेष्वप्यभिदध्यात्. ननूच्यन्त एव ब्रह्मधर्माः सच्चिदानन्दादयस्तेष्विति चेन्न, अक्षरगतानामेव तेषां तद्वृत्तितया व्यपदिश्यमानत्वात्. अन्यथा बर्हापीडत्वादयोपि व्यपदिश्येरन्. न च इष्टापत्तिः. तदसाधारणधर्माणामन्यत्र कथनस्यानिचितत्वात्. किञ्च, सर्वेषां धर्माणां साधारणत्वे तद्गतासाधारणधर्माभावे लक्षणाभावादनिरूप्यत्वं जीवसमत्वमभजनीयत्वं च स्यात्. तस्मादभेदस्याक्षरसमानाधिकरणत्वेन तद्धर्मव्यपदेश एव, न पुरुषोत्तमधर्मगन्धोपीति

बुद्ध्यस्व. नन्वैश्वर्यादयो व्यपदिष्टा एव, किं न ते पुरुषोत्तमधर्मा इति चेत्, सत्यम्, तद्धर्मा एव, परंत्वक्षरस्य चरणरूपत्वेन तदभिन्नतया तेषां तत्र सद्भावात्. यतो व्यासादिष्वपि तदिच्छया तद्भावः, युक्तं भगैः स्वैरिति वाक्यात्. एवं सति ''उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'' 'भेदव्यपदेशाच्चे'त्यादिस्मृतिसूत्रमीमांसया अक्षराभेदः पुरुषोत्तमभेद इति भेदाभेदवादोऽस्माकमिति दिक्।।१४।। ननु वैराग्यस्य गुणगानाङ्गत्वेन तदभावे अङ्गहीनत्वेन न सफलत्वमित्याशङ्क्य तदप्यनेनैव भवतीति साधनसम्पादकरूपमुत्कर्षमाहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति. भगवद्धर्मो गुणगानं तत्सामर्थ्याद्वस्तुशक्तेरेव विषये भगवदतिरिक्तविषये विरागो रागाभावः स्थिरः, अन्यापरिभाव्यो भवतीत्यर्थः. ''सा श्रद्दधानस्य विवृद्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंस'' इति वाक्यात्. यद्वा, भगवद्धर्माः भगवल्लीलादयः, तत्सामर्थ्यादेव तत्स्वभावादेव विरक्तो भवतीत्यर्थः. अत एवोक्तमित्थं भूतगुणो हरिरिति।।१५।। एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधाय तदुपसंहरन्ति एवं ज्ञात्वेति, एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण ज्ञानमार्गात् गुणवर्णने उत्कर्षं ज्ञात्वा सर्वापेक्षां परित्यज्य सदा कालाव्यवधानेन गुणा एव वर्णनीयाः. अत्र बाधकद्वयं त्यागार्थमाहुः अमत्सरैरलुब्धैरिति. मात्सर्यलोभयोरत्यन्तबाधकत्वात् त्याज्यत्वम्, निर्मत्सराणां सतामिति वाक्यात्।।१६।। ननु गुणगानं रागतानादिवशीकृतचित्ततया कार्यं इत्याशङ्क्य तापक्लेशैर्गुणगानस्य पूर्वोक्तमुख्यनिरोधादिकाररूपत्वात् तदनुक्त्वा भगवत्स्वरूपध्यानमात्रमेव साधनमाहुः हरिमूर्तिः सदा ध्येयेति. एवं कृते तदेकशरणस्य अन्याशक्यपूरणमनोरथस्य सर्वथा निःसाधनस्य गजेन्द्रस्येव रक्षार्थं भगवानाविर्भवतीति ज्ञापयितुं हरिरिति. ननु योग इव कल्पितमूर्तेरुपासनायामिव सम्पादिताध्यस्तक्रियाविशेषयुक्तमूर्तिनां ज्ञान इव सोपधानमूर्तेर्ध्यानमिहापि भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः हरिमूर्तिरिति. भक्त्याविर्भूतस्वरूपस्यैव ध्यानम्, न त्वन्यथाभूतस्येत्यर्थः. ध्येयेति विध्यर्थककृत्यप्रत्ययेन आवश्यकत्वं द्योतितम्. ननु ध्यानपूर्वकगुणगानमात्रेण किं भवतीत्याशङ्क्याहुः सङ्कल्पादपीति. सङ्कल्पाद्विचारमात्रादपि तत्र भगवन्मूर्तौ प्रादुर्भावात् भगवतो दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टबाधितं भवति. तथा कृतिः कटाक्षक्षेपणादिरूपा, गतिः विलासगतिः एतत्सर्वं ध्यानपूर्वकतादृशगुणगानेन निरोधाद्भगवत्स्वरूपे स्पष्टबाधितं अनुभूतं भवतीत्यर्थः. निरोधोपयोगिसाधनान्तराण्याहुः, श्रवणं कीर्तनमिति. श्रवणं श्रीभागवतादेः कीर्तनं एतद्द्वयमपि स्पष्टम् सङ्कोचादिकमकृत्वा कर्तव्यम्. अन्यथा श्रवणे कीर्तने असम्भावनाविपरीतभावने स्याताम्, तथा च अनर्थः स्यादिति भावः. श्रोतृसापेक्षं कीर्तनं तन्निरपेक्षं गानमिति तयोर्विवेकः. किञ्च पुत्रे कृष्णप्रिये कृष्णस्य प्रियः

कृष्णः प्रियो वा यस्य तथाभूते रतिः कार्येत्यर्थः. पुत्रे कृष्णप्रिय इति व्यत्यासेन कृष्णप्रियत्वेनैव रतिः कार्या न पुत्रत्वेनेति भावः सूच्यते. अतः परं साधनसमुदायफलं निरूपयन्तः शरीरपरिवर्तलक्षणं प्रतिबन्धनिराकरणमाहुः वायुरिति. सपरिकरणे गुणगानेन प्रकटे भगवति तच्चरणमकरन्दगन्धवाहः स्वविवरैः प्रविशन् शरीरगतमलांशं शोषणयोग्यं शोषयित्वा तदयोग्यं स्ववेगेनोत्क्षिप्य तनौ शेषभागं शेषः अवशिष्टो यश्चरणरेणुसम्बन्धी भागः तं नयेत् प्राप्नुयात्. तथा सति अस्मिन्नेव शरीरे अलौकिकत्वसम्पत्या पुरुषोत्तमानन्दानुभवयोग्यता भवतीत्यर्थः. एतेनैतदतिरिक्तसाधनैरयं प्रतिबन्धो न निवर्तत इत्युक्तम्. एतादृशस्यापि दुःसङ्गादिना भावनाशसम्भवादुपायमाहुः यस्येति. यस्य पुत्रादेर्भगवत्कार्यं सेवादिरूपं स्पष्टं प्रकटं प्रातिकूल्येन न दृश्यते शिक्षायामपि तदा सति सामर्थ्ये तस्य विशेषेण भरणादिकमकृत्वापि निग्रहः कर्तव्य इत्यर्थः. अन्यथा सति सामर्थ्ये तदनिग्रहे “अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती”ति न्यायेन तद्रतौ पुत्रे कृष्णप्रिये रतिरित्यनेन विरोधापत्तेरित्यत आहुः इति निश्चयः. सति सामर्थ्ये निग्रह एव कर्तव्य इति भावः. इदमुक्तं भवति. कृष्णप्रियत्वे रतिरस्पष्टप्रभुकार्यकरणे औदासीन्यं प्रातिकूल्ये सति सम्भवे त्यागस्य सेवाप्रतिकूलतया निग्रहः, असम्भवे तु त्यागं कृत्वा आन्तरभक्तिमार्गे प्रवेश इति।।१७, १८, १९।। अतः परं साधनरूपं निरूपयन्तः साधनान्तराणामप्रयोजकत्वं वदन्तः स

---

१ एतावत्येव टीका मिलिता

लालूभट्टकृत ‘निर्णयार्णवा’न्तर्गतैतद्ग्रन्थसंशयनिरासः।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै. कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजये’दिति. कृष्णस्य सर्ववस्तूनि कृष्णसम्बन्धिरूपरसादीनि विषयरूपाणि इन्द्रियाणां हिताय योजयेत्. भगवद्रूपादौ चक्षुरादीनां विनियोगः कार्यो, न त्वन्यत्रेति फलितोऽर्थः. ननु जीवानां नानादेशस्थानां भगवद्रूपादिदौर्लभ्यात्कथं विनियोगः स्यादित्याशङ्क्याहुः ‘भूम्न इति. व्यापकसेत्यर्थः ननु व्यापकत्वेपि तिरोहितत्वाद्दौर्लभ्यं दुर्निवारमित्याशङ्कययाहुः ‘ईशस्ये’ति. सर्वत्र सर्वरूपेण सर्वकरणसमर्थस्येत्यर्थः एवं सति मूर्त्यादिरूपेण प्रकटस्य साक्षाद्भगवत्वात्तत्र चक्षुरादिविनियोगस्य सौकर्यममिति कृतार्थता सिद्धैवेति सामर्थ्यसूचकमीशपदम्.

अत्रैव–हरिमूर्तिः सदा ध्येयेत्यादि. ध्येयेति. अनेनाऽन्तःकरणस्य भगवत्युपयोग उक्तः. दर्शनं स्पर्शनमिति चक्षुस्त्वचोः. तथा कृतिगती इति करपादयोः. श्रवणं कीर्तनं स्पष्टमिति श्रोत्रवाचोः. पुत्रे कृष्णप्रिये रतिरिति. कृष्णः प्रियो यस्य कृष्णस्य प्रिय इति वा विग्रहेण भगवद्भक्त इत्यर्थः. कृष्णप्रिये पुत्रे इत्यत्र ‘निमित्ताकर्मयोग’ इति सूत्रेण सप्तमी. रतिरिति कर्मपदम्. अध्याहृतेन कर्तव्येति पदेन कर्मणोऽभिधानादभिहिते रतिरूपे कर्मणि प्रथमा. प्रथमान्तेन कर्मवाचकरतिपदेन योगात्पुत्रे कृष्णप्रिये इत्यत्र निमित्तसप्तमी. तथा च कृष्णप्रियपुत्रार्थं रतिः कर्तव्येत्यर्थो भवति. अनेन व्यवायेन्द्रियस्य परम्परया भगवत्सेवोपयोगो निरूपितः. भगवद्भक्तः पुत्र उत्पत्स्यत इति बुद्ध्या भोगः कार्यो, न त्वन्यथेति भावः. पुत्रपदेन स्वभार्यायामेव ऋतावेव भोगः कार्यो, न स्वाच्छन्द्येनेत्यनुज्ञातम्. पायोरिति. तद्द्वारा मलांशत्यागो देहः शुद्धो भगवत्सेवायामुपयोक्ष्यत इति पायोः परम्परयोपयोगो ज्ञेयः. यस्य वेति. अन्तःकरणबहिःकरणानां मध्ये यस्य चक्षुरादेर्यदा यस्मिन् समये भगवत्कार्यविनियोगो न दृश्यते, तदा, तस्मिन् समये तस्य विनिग्रहः कर्तव्यो, न तु भगवदितरपदार्थे विनियोग इत्यर्थः. केचिदत्र “यस्य वा भगवत्कार्यम्” इत्यनेन व्यवायेन्द्रियमात्रस्य निग्रह उक्त इत्याहुः. तन्न. यस्य यदा तस्य तदेत्युक्तयोर्यत्तच्छब्दयोर्वैयर्थ्यापत्तेः. अतः साक्षात्परम्परया वा यथायकथञ्चिदपि भगवद्विनियोगः स्यात्तदेन्द्रियाणि विनियोजयितव्यान्यन्यथा तु सर्वस्यैवेन्द्रियगणस्य निग्रहः कार्य इत्येवाचार्यवर्याणामाशयो, न तु केवलं व्यवायेन्द्रियमात्रनिग्रहे तात्पर्यमिति ज्ञातव्यम्.

ननु निरोधलक्षणग्रन्थे “यच्च दुःखं यशोदाया” इत्यादिना श्रीमदाचार्यवर्यैर्भगवद्विरहादिसामयिकदुःखादि स्वयं याचितमेतावता निरोधस्य किं लक्षणं सिद्धमिति चेत्. शृणुत. भगवद्विरहे दुःसहं दुःखं भगवत्संयोगे परमाल्हादश्चेत्यादि कार्यं निरोधजन्यमेव. यतो निरुद्धानामेव भगवद्विरहे दुःखं श्रूयते. संयोगे महानानन्दश्च. “गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने. क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभव”दिति वाक्यात्. एवं सति तादृशदुःखादेर्निरोधकार्यत्वात्कार्यलक्षणमत्र सुखसाध्यमित्याकलय. भगवद्विरहसामयिकपरमदुःखकारणत्वं निरोधत्वं भगवत्संयोगसामयिकपरमानन्दसाधकत्वं निरोधत्वमित्यादिलक्षणानि निरोधस्य सिध्यन्ति. निरोधस्य निबन्धसुबोधिन्योर्बहुधा निरूपितस्य परस्परविरुद्धतया प्रतीयमानलक्षणस्य सम्यगविरोधप्रकारो मया सुबोधिनीयोजनायां विवृत इति विशेष जिज्ञासायां ततोवधेयम्.

---

१ एतदन्ते मुद्रितम्.

लालूभट्टकृतनिरोधस्वरूपनिरूपणं श्रीदशमस्कन्धसुबोधिनीयोजनान्तर्गतम् ।

श्रीगोवर्धनधारी तनोतु मङ्गलानि ।

श्रीगोवर्धनधारिणं शुभकरं शृङ्गारमूर्तिं भजे ।वन्दे नन्दपुराणपुण्यफलितं श्रीबालकृष्णं प्रभुम् ।
श्रीमद्वल्लभविट्ठलेश्वरविभू ध्यायामि सद्वन्दितौ ।कुर्वे तत्कृपया निरोधविवृतौ
सन्देहविध्वंसनम् ।।

अथ निरोधस्य स्कन्धार्थत्वात् प्रथमं तत्स्वरूपं विचार्यते. तत्र ''निरोधोस्यानुशयनमात्मनः सहशक्तिभि''रिति वाक्यादात्मनः पुरुषोत्तमस्य शक्तिभिरनुशयनं निरोधः. आत्मपदान्निर्गुणं परं ब्रह्म ग्राह्यम्. 'गौणश्चेन्नात्मशब्दादि'त्यत्रात्मशब्दस्य परवाचकताया निर्धारितत्वात्. तत्र ''कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः, तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत'' इति श्रुतेः ''कृष्णस्तु भगवान्स्वय''मित्यादि वाक्याच्च परमात्मत्वं कृष्णस्य सिद्धम्. अतः कृष्णस्य अनुशयनं निरोधः. अनुशयनं नाम लीलानुरूपास्थितिः. ''विष्णुः सर्वगुहाशय'' इत्यादौ शीङ्धातोः स्थित्यर्थकत्वात्. ''न हि गुहायां शेते'' इति व्युत्पन्नेन गुहाशयशब्देन निद्रातीत्यर्थः सिध्यति, निद्राया अविद्यावृत्तित्वात्. अतः शीङ्धातोस्तादृशस्थितिरत्रार्थः. एवं सति शक्तिभिः सह भगवतः स्थितिः शयनं, अनुरूपतोपसर्गार्थः. कस्यानुरूपेत्याकाङ्क्षायां स्थितेर्लीलाप्रयोजनकत्वाल्लीलानुरूपेति बोध्यम्. एवं च कृष्णस्य लीलानुरूपा स्थितिरनुशयनमिति सिद्धम्. स्थितिरपि लीलाविशेषोनेकविधलीलासाधकः. अतः सर्वलीलासाधिका स्थितिरूपा लीला निरोधपदार्थो भगवद्धर्मः स च प्रपञ्चमध्य एव स्फुटः. कृष्णावतारस्य प्रपञ्च एव जातत्वात्. तदुक्तं निबन्धे ''स एव कदाचिज्जगदुद्धारार्थं अखण्डः पूर्ण एव प्रादुर्भूतः कृष्ण इत्युच्यत'' इति. अतोनेकशक्तिभिः सह कृष्णस्य प्रपञ्चे क्रीडा निरोध इति फलितम्. एतदुक्तं सुबोधिन्यां ''निरोधोस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः. शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षण''मिति. इह कारिकायां कृष्णस्येतिपदं मूलस्थात्मपदव्याख्यानरूपम्, भागवतमते कृष्णस्यैवात्मरूपत्वात्. अत एवावतारान्तरलीलायां स्कन्धान्तरप्रतिपाद्यायां नातिव्याप्तिरिति भावः. एवं निरोधशब्दोऽनुशयने रूढ इत्युक्तम्. किञ्च, प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्निरोधः, नितरां रोधो निरोध इति व्युत्पत्तेः. रोधः कस्येत्यपेक्षायां भक्तानामितिपूर्वस्कन्धार्थसङ्गत्या लभ्यते, कस्माद्रोध इत्यपादानापेक्षायां प्रपञ्चो ग्राह्यः. तथा सति प्रपञ्चाद्रोध इति सिध्यति स्म. प्रपञ्चाद्रोधेपि ''कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्. इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते'' इतिवत्प्रपञ्चस्मरणं चेत्तदा भगवल्लीलानुभवे मुख्योधिकारो न स्यात्, अतः प्रपञ्चविस्मरणमपेक्षितम्, तदुपसर्गेण लभ्यते, नितरां रोधः प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकः स निरोध इति. कस्मिन्निरोध इत्यपेक्षायां भगवति निरोध इति ज्ञेयम्. स हि परमरुच्युत्पादकलीलाजन्यत्वेन

परमसुखरूपत्वादासक्तिरूपो भवितुमर्हति. एवं यौगिकव्युत्पत्त्या प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्निरोध इति फलितम्. ''या तु व्यसनसम्प्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यत'' इति भरताचार्यवाक्ये व्यसनपदवाच्याया आसक्तेरेव निरोधत्वकथनाच्च. सा च ''इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा, कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदना''मित्यत्र स्फुटमभिहितम्. ''शय्यासनाटनालापस्नानक्रीडाशनादिषु, न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णदेवता'' इत्यत्र च स्फुटमभिहिता. एवमुभयं निरोधपदवाच्यम्. ''समुदायो जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः. प्रपञ्चविस्मृतिः सक्तिर्भक्तानां चापि योगत'' इति निबन्धात्. निरोधशब्दस्य यौगिकत्वपक्षे भक्तकर्मकनिरोधवत् भगवत्कर्मको निरोधो गोप्यतया विवक्षितः. यथा भगवता लीलाभिर्निरुद्धा भक्ता भगवद्वशे भवन्ति, एवं पुष्टिभक्तैर्लीलाभिर्निरुद्धो भगवान् भक्तवश्यो भवति. अत एव भगवता भक्तेतरविषयकज्ञानाभावः स्वस्मिन्प्रदर्शितो ''नाहं तेभ्यो मनागपी''त्यनेन. इममर्थं सूचयितुं स्वहृदयशेषे भगवतः शयनमाचार्यैरुक्तं ''नमामि हृदये शेषे'' इत्यनेन. ''अन्यत्र गतिरहितो य'' इति टिप्पण्यां व्याख्यातं च. अन्यच्च ''आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते, स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यत'' इत्यादौ प्रलयो निरोधपदवाच्यः. स च प्रपञ्चप्रतियोगिकः. एवं च सुबोधिन्युक्तया टिप्पणीव्युत्पादितया पूर्वोत्तरस्कन्धार्थसङ्गत्या नवमदशमार्थसङ्गतिविचारे भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो निरोध इत्यायाति. अत एव द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां ''भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोध'' इत्युक्तं इहेव सुबोधिन्याम्. अतो ''निरोधो भक्तानां प्रपञ्चस्येति निश्चय'' इत्यभाणि. तथा च भक्तानां प्रपञ्चस्य प्रलयस्तिरोधानं नित्यलीलौपयिकदेहत्वफलको जाड्यात्मकप्रपञ्चभावाल्लय इति यावत्. तदुक्तं सुबोधिन्यां ''अतो निरोधो भक्तानां प्रपञ्चस्येति निश्चय'' इति. सूतोक्तलक्षणेषु निरोधस्थाने संस्था पठिता, संस्था च ''नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः''. ''संस्थेति कविभिः प्रोक्तश्चतुर्द्धास्य स्वभावत'' इत्यनेन प्रलयरूपा व्याख्याता. अतो निरोधशब्देन प्रलय उच्यते, 'निरोधोस्यानुशयन'मित्यस्य सुबोधिन्यामपि शक्तीः शाययित्वा तद्भोगार्थं भगवतः शयनमिति व्याख्यातम्. तत्रापि शक्तिशयनान्तरं शयनकथनेन प्रलय उक्तः. अतो भक्तप्रपञ्चसम्पादिकाः शक्तीः स्वस्वरूपे तिरोहिताः कृत्वा तिष्ठति, ततो भक्तान् प्रति प्रपञ्चस्तिरोभवति, अतो भक्तानां प्रपञ्चनिवृत्तिरिति सिध्यति. एतदभिसन्धायोक्तमत्र ''एवं सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्विशेत्, तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यम'' इति. इदमत्र ज्ञेयम्. स्वच्छन्दलीलाभिर्भगवान्निरोध्य भक्तानां देहादिसकलप्रपञ्चे स्वानन्दं प्रवेशयन् तिरोहितानन्दमथाविर्भावयति, ततो भगवदानन्दानुभवयोग्यालौकिकदेहत्वप्राप्तौ जाड्यादिरूपपूर्वप्रपञ्चभावो लीयते, अयमेव प्रलयपदार्थः. अतो भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो निरोध इति फलति स्म. तथा च प्रपञ्चे शक्तिभिर्भगवत्क्रीडनं भक्तानां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्भक्तानां प्रपञ्चाभावश्चेति त्रयं निरोधपदवाच्यम्. तत्र भगवत्क्रीडनं करणं, भगवदासक्तिर्व्यापारः, भक्तानां प्रपञ्चाभावः फलमिति त्रितयरूपो निरोधः स्कन्धार्थः. एवमत्रेदं

सिद्धम्. भगवाननेकशक्तिभिः करणरूपनिरोधात्मिकां क्रीडां कुर्वन् प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकासक्तिरूपनिरोधात्मकव्यापारेण प्रपञ्चाभावरूपफलात्मकनिरोधं सेवकानां सम्पादयतीति त्रिष्वपि निरोधपदव्यवहारः सुबोधिनीनिबन्धादिषूपलभ्यत इति सर्वमदुष्टम्. किञ्च, “लौकिकेषु तु भावेषु यत्रैव हरिवेशनं. निवर्तते तदेवात्र वह्नेर्दारुमयं यथे”ति कारिकायां फलात्मको निरोध उक्तः. तथाहि, लौकिकेषु भावेषु पदार्थेषु यत्र-यत्र भगवान् प्रविशति, तत्र-तत्र चिदानन्दयोस्तिरोभूतयोराविर्भावात्तदेव पूर्वस्थितस्वरूपं तिरोहितानन्दकं निवर्तते, ब्रह्मात्मकं भवति, प्रकटसच्चिदानन्दकं भवतीति यावत्, तत्र दृष्टान्तः, वह्नेरित्यादि. वह्निप्रवेशे दारूणां वह्निरूपता तद्वदित्यर्थः. एवं भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो बोध्यः. अन्यच्च, शक्तिशयनानन्तरशयनवाचके अनुशयनशब्दे गोप्योर्थोपि विवक्षितः, तदनुसारेण स्कन्धारम्भे स्कन्धार्थरूपं भगवन्तं नमस्यद्भिः श्रीमदाचार्यचरणैलीलाक्षीराब्धिशायिनं लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिमित्युक्त्या रहस्यलीलायां निरोधपदवाच्यत्वं सूचितम्. तदनुसारेण प्रभुचरणैष्टिप्पण्यां “अनुशय्यते अनेने”तिकरणव्युत्पतिं प्रदर्श्य निगूढभावकरणं येन स निरोध इत्युक्त्वा स्वकीयेषु स्वविषयकभावोत्पादनं यया लीलया क्रियते, सा निरोधपदवाच्येत्युक्तवद्भिर्गुप्तलीलायाः स्कन्धार्थता प्रतिपादितेति विद्वद्भिर्विभावनीयम्. एवञ्च, श्रीशुकोक्तिसुबोधिनीटिप्पणीषु सर्वत्राविरोध इत्येक एवाशयस्त्रयाणां प्रादुर्भवति स्म. तथा सतीदं सिद्धम्. देहादौ चिदानन्दयोः प्राकट्येन जाड्यादिप्रपञ्चभावप्रलयः फलरूपो निरोधः सिद्धः. तस्मिन् सति प्रपञ्चे विद्यमानानामपि भक्तानां कृष्णानन्दानुभवयोग्यदेहत्वं सिध्यति. इदमेव यमुनाष्टके “ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावते”त्यनेन प्रार्थितं, ततो नित्यलीलाप्रवेशः स मुक्तिपदवाच्यः, निरोधलीलायां भक्तानां साधारणमायागुणरहितत्वेपि लीलास्थभक्तनियामकान्तरङ्गमायागुणव्याप्तत्वेन लौकिकसादृश्यव्यवहारः पुराणादौ तेषां अन्तरङ्गयोगमायागुणनिवृत्तौ नित्यलीलाप्रवेशरूपा मुक्तिः अतो मुक्तिलीलायां शुद्धनिर्गुणत्वमिति विवेकः. ‘मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं’इति वाक्यात्. सगुणत्वस्यान्यथारूपत्वात्.